डा० रामविलास शर्मा

पंचरत्न

मृतलाल नागर • बरान्निकोव • जात्रा • नाटक • डायरी के पन्ने • गुलाबराय • ल

डा० रामविलास शर्मा

पंचरत्न

यह 'पंचरत्न' है।
जिन पांच प्रमुख तत्त्वों से यह बना है, उनमें पहला है रेखाचित्र। जिनके रेखाचित्र यहां दिए गए हैं, वे या तो साहित्यकार हैं या साहित्य और साहित्यकारों से उनका गहरा संपर्क रहा है। दूसरा तत्त्व है संस्मरण। रेखाचित्र वाला तत्त्व कहां समाप्त होता है और संस्मरण वाला कहां प्रारम्भ होता है, यह बताना मेरा काम नहीं है। श्रेष्ठ पेय वह है जिसमें विभिन्न तत्त्व ऐसे घुल-मिल गए हों कि उनके अलग अस्तित्व का पता न चले। तीसरा तत्त्व निबन्धों का है, चौथा डायरी का और पांचवां पत्रों का।

(पुस्तक की भूमिका में से)

पंचरत्न

नाटक० निराला० गुलाब राय० जात्रा

अमृतलाल नागर० डायरी के पन्ने ० लक्ष्मी वाहन

निराला० बरान्निकीव० जात्रा० नाटक

गुलाब राय० डायरी के पन्ने ० अमृतलाल नागर

राजपाल एण्ड सन्ज़, कश्मीरी गेट, दिल्ली

पंचरत्न

डा० रामविलास शर्मा

मूल्य : सोलह रुपये (16.00)

प्रथम संस्करण 1980, © डा० राम विलास शर्मा
PANCHRATNA (Memoirs), by Dr. Ram Vilas Sharma

भूमिका

यह 'पंचरत्न' है।

जिन पांच प्रमुख तत्त्वों से यह बना है, उनमें पहला है रेखाचित्र। जिनके रेखाचित्र यहां दिए गए हैं, वे या तो साहित्यकार हैं या साहित्य और साहित्यकारों से उनका गहरा संपर्क रहा है। दूसरा तत्त्व है संस्मरण। रेखाचित्र वाला तत्त्व कहां समाप्त होता है और संस्मरण वाला कहां आरंभ होता है, यह बताना मेरा काम नहीं है। श्रेष्ठ पेय वह है जिसमें विभिन्न तत्त्व ऐसे घुल मिल गए हों कि उनके अलग अस्तित्व का ठीक पता न चले। तीसरा तत्त्व निबन्धों का है, चौथा डायरी का और पांचवा पत्रों का। डायरी में कुछ अंश वृन्दावन लाल वर्मा के बारे में हैं, कुछ अमृतलाल नागर के बारे में। केदारनाथ अग्रवाल को लिखे हुए मेरे पत्रों के कुछ अंश 'केदार से बातचीत' में हैं। इनमें 3 जनवरी 1936 से लेकर 10 फरवरी 1943 तक के पत्र लखनऊ से लिखे गए हैं, शेष आगरे से।

रेखाचित्रों में सोवियत संघ के हिन्दी प्रेमी विद्वान् अलेक्सेइ पेत्रोविच वरान्निकोव का रेखाचित्र भी है। मैंने कभी उनके दर्शन नहीं किए किन्तु उनके पुत्र से उनके बारे में इतना सुना था कि लगता था जैसे उन्हें प्रत्यक्ष देखा हो। उनके बारे में यहां दी हुई जानकारी शायद अन्यत्र न मिले, इस विचार से उस रेखाचित्र को मैंने शामिल कर लिया है।

संग्रह की काफी सामग्री पहले पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हो चुकी है। 'एक बुंदेलखंडी,' 'भुवनेश्वर प्रसाद', 'स्वामी जी,' 'डायरी के पन्ने,' 'केदार से बातचीत'—ये रचनाएं पहली बार प्रकाशित होंगी।

रेखाचित्र, संस्मरण, डायरी के कई तत्त्वों में आप एक ही अमृत तत्त्वकी व्याप्ति देखेंगे अर्थात् अनेक रचनाओं का सम्बन्ध पंडित अमृतलाल नागर से है।

15 मार्च, 1980 —राम विलास शर्मा

अनुक्रम

पण्डित अमृतलाल नागर

हिन्दी के प्रसिद्ध लेखक पण्डित अमृतलाल नागर बहुत दिलचस्प आदमी हैं, देखने में शरीफ भी मालूम होते हैं। जिस शहर, जिस मोहल्ले में रहते हैं, हर तरह के आदमियों, खासकर साहित्य के नशेबाज़ों को उनकी तलाश रहती है। हंसी-ठहाके, ऊंची आवाज़ में बहस, किसी की नकल, बच्चों में चुहल, कभी गुस्से में धारा प्रवाह भाषण और सुनने वाले सन्नाटे में, और कभी खुद कुछ मिनटों को चुप, क्योंकि मुंह में नया पान जमाया है—सोने का समय छोड़कर नागरजी ज्यादातर बातें ही किया करते हैं और जब दूसरे नहीं होते तब कागज़ पर कलम चलाते हुए अपने पाठक से बातें करते हैं। उनमें एक जन्मजात कला है कि वे हर तरह की मण्डली में घुल-मिल जाते हैं—सिर्फ विद्या या धन के मद में भूले हुए, गम्भीरता का ढोंग रचाने वाले से उनकी पटरी नहीं बैठती।

पारिवारिक संस्कारों के कारण वे हैं बिगड़े हुए रईस। उनके पिता बैंक के उच्च अधिकारी थे और नागरजी ने बचपन में धन का वैभव देखा है। अब उनके रईसी ठाठ में एक कदीमी हवेली है जिसमें किराया देकर वे रहते हैं, टेलीफोन है, कुछ पुराने युगों की मूर्तियां और ईंटें और कुछ बेंत और छड़ियां। उनकी एक खूबसूरत छड़ी पन्तजी ले गए; तब से वे अपने संग्रहालय के प्रति विशेष सतर्क रहते हैं। उनका पान का बटुआ और खद्दर का कुर्ता-पाजामा उनकी सज-धज का ज़रूरी हिस्सा है। लेकिन मैंने उन्हें चूड़ीदार पाजामा और शेरवानी में कभी नहीं देखा। जाड़े में बन्द गले का कोट अलबत्ता पहन लेते हैं, कभी-कभी सर पर कनटोप भी लगाते हैं। इधर बरसों से उन्हें गांधी टोपी पहनते नहीं देखा। यानी उनकी सजधज नेता-मार्का रईस से एकदम अलग है।

चेहरे में आंखें ही आंखें हैं—एकदम घनी काली भौंहें और बड़े पोटों में भौंरे जैसी काली पुतलियां। इन आंखों में केवल एक ही भाव छलकता है, ढाई अच्छर वाला प्रेम का भाव। घृणा, क्रोध, उदासी आदि के भाव उनके ओठों पर खेलते हैं; आंखें तटस्थ रहती हैं। जब ओठों पर इन अस्थायी भावों की क्रीड़ा समाप्त हो जाती है, तब आंखें फिर मुखर हो उठती हैं।

नागरजी का हाथ देखिए, तो एकदम दुबला-पतला, उनके गोल, भूरे चेहरे से एकदम उल्टा, विश्वास न हो कि यह कलम चलाने का परिश्रम भी करता होगा। नागरजी अपना बहुत-सा साहित्य बोलकर लिखाते रहे हैं, फिर भी बलकम खुद लिखे हुए सफों की तादाद कम नहीं वैसे हाथ-पैर दोनों मजबूत हैं, खासतौर से पैर। आगरे में गोकुलपुरे मोहल्ले की अपनी ससुराल से चले। बातें करते हुए मथुरा वाली सड़क पर रेलवे क्रॉसिंग तक पहुंच गए। वहां अमरूद खाए, फिर बोले— चलो सिकन्दरा देख लिया जाए। सिकन्दरा में बन्दरों की उछल कूद देखने और प्रसंगवश सिनेमा के अनेक अभिनेताओं की आलोचना करने के बाद बोले—चलो कैलास भी हो लें, देखें बरसात में जमुना का क्या रंग है! वहां पहुंच कर मेरी जेब में जितने कागज़ थे, उनकी नावें बना-कर जमुना में तैराते रहे। उस दिन साथ में उदीयमान लेखक शाह-नसीर फरीदी भी थे। काफी तगड़े आदमी हैं। लौटने पर जब पूछा कि कल घूमने चलेंगे, तो फरीदी साहब ने कहा—ऐसा घूमना आपको ही मुबारक हो; हमने एक ही दिन में भर पाया। (यानी वे पन्द्रह-सोलह मील की सैर के लिए तैयार न थे।)

एक दूसरे उदीयमान नक्षत्र राजेन्द्र यादव के साथ जब हम लोग दक्षिण-यात्रा के लिए निकले तब यह तय हुआ कि हर आदमी अपना सामान खुद लादकर चलेगा, स्टेशनों पर कुली न किया जाएगा। नागरजी का झोला सबसे भारी था, क्योंकि खद्दर के कपड़े जल्दी मैले होते थे; हम दोनों की अपेक्षा नागरजी ने ही ज्यादा अदद रखे थे। कपड़ों के अलावा झोले में ओढ़ने-बिछाने का सामान भी था। यह सब सामान पीठ पर लादकर उन्होंने कुली की मदद के बिना ही सारा

सफर तय किया।

उनके शरीर में भूख सहने और भूखे रहकर भी चलने और काम करने की जितनी ताकत है उतनी विरलों में होगी। बम्बई में उन्होंने चाय-स्लाइस पर बहुत दिन काटे हैं। 'ये कोठेवालियां' में उन दिनों की एक झलक है। बम्बई में एक बार किसी कारणवश उन्होंने 28 दिन तक उपवास किया था। 20 जून, 1947 के अपने कार्ड में उन्होंने लिखा था "उपवास कल अट्ठाइस रोज़ बाद टूटेगा। पन्तजी इलाहाबाद जाने से पहले मुझे अन्न खाते हुए देखना चाहते हैं। उनका प्रेमपूर्ण आग्रह न मानकर मुझे अपने को सज़ा देने के लिए न मालूम कौन-सा सख्त तरीका सोचना पड़ता। खैर! ज़िद न रही, ज़िद भी गई।" इस बयान से पाठक समझ लेंगे कि नागरजी ने उपवास स्वेच्छा से किया था।

स्वभाव से वे काफी ज़िद्दी हैं। पहले मैं बहस करके अपनी बातें—जो हमेशा सही न होती थीं—मनवाने की कोशिश करता था। जब मैं समझता था नागरजी को मैंने तर्कों की जंजीर से बांध लिया है, तभी नागरजी ऐसी तर्कातीत बातें कहकर जंजीर तोड़ देते कि मैं उनकी शक्ल देखता रह जाता। एक बार हिंसा-अहिंसा पर देर तक उनसे बहस हुई। नागरजी को ठेलता हुआ मैं उस कोने में ले गया, जहां उन्होंने घोषित किया कि सभी हिंसा जीवनी-शक्ति का प्रयोग है; यही नहीं वे उसका स्वागत करते हैं, इससे भी बढ़कर यह कि हिन्दु-मुस्लिम दंगों में प्रकट होने वाली हिंसा और शोषण का नाश करने के लिए की गई हिंसा में कोई अन्तर नहीं है और दोनों ही स्वागत योग्य हैं!

नागरजी की ये स्थापनाएं इतनी विचित्र थीं और उनके स्वभाव, संस्कारों और विचारों के इतना प्रतिकूल कि मैंने उन्हें कागज़ पर लिखा लेना ही उचित समझा, ताकि सनद रहे और वक्त ज़रूरत काम आए। पहले मैंने दो प्रश्न लिखे : (1) क्या दंगे जीवनी शक्ति का प्रयोग हैं और तुम उनका स्वागत करते हो? (2) क्या तुम शोषण को खत्म करने के लिए क्रांति और दंगों को जीवनी-शक्ति का प्रयोग समझकर दोनों का ही स्वागत करते हो?

इनके उत्तर में नागरजी ने विशाल आकार में लिखा—हां!

इसके बाद जंजीर तोड़ने के लिए अपने उस विराट 'हां' की सूक्ष्म व्याख्या इस प्रकार लिपिबद्ध की : "दंगे जीवनी शक्ति का प्रयोग हैं। स्वागत इस दृष्टि से करूंगा कि मनुष्य रूप (रूप के लिए नागरजी ने अंग्रेजी में लिखा है फार्म) में जीवन अपने विकास के क्रम से बंधा हुआ [आज प्राय: सम्पूर्ण जाति (यहां जाति की विशालता प्रकट करने के लिए उन्होंने एक अण्डाकार चक्र बनाया है) जो सारी दुनिया पर छाई हुई है] आज इस दिन तक पहुंचा है, उसके संस्कारों ने उसे यह चेतना दी है कि इस प्रकार की अनैतिकता और अराजकता—वह चाहे एक घर में हो, एक जाति, एक देश वगैरा-वगैरा-किसी रूप में भी हो, सदा आनन्द और शान्ति के लिए घातक होती है। आनन्द और शान्ति ही जीवन का चरम और परम—जो शब्द भी हो (मेरा मतलब यह है कि जो ऊंची से ऊंची महत्त्वाकांक्षा होती है) के लिए वह जीवित रहती (अंग्रेज़ी मिश्रित क्रिया लिखी है—एक्ज़िस्ट करती) है।"

यानी नागरजी आनन्द और शान्ति को जीवन का चरम लक्ष्य मानते हैं। हर तरह की हिंसा इस लक्ष्य की प्राप्ति में बाधक होती है। और हिंसा को जीवनी-शक्ति का प्रयोग मानकर नागरजी उसका स्वागत भी करते हैं!

'निराला' जी के बाद तर्क की इस भूमि पर बात करने वाला अब कोई है, तो नागरजी!

नागरजी पढ़े-लिखे आदमी हैं। गुजराती उनकी मातृभाषा है। हिन्दी मोहल्ले की भाषा है। बम्बई में रहते हुए मराठी पढ़ने और बोलने का अच्छा अभ्यास किया। विष्णुभट गोडशे की पुस्तक "माझा प्रवास" का हिन्दी में अनुवाद भी किया है। बंगला बहुत अच्छी जानते हैं, प्रसिद्ध उपन्यासकार शरत्च्चन्द्र चटर्जी की संगत कर चुके हैं। अंग्रेजी जानते ही हैं, संस्कृत के ढेरों श्लोक कण्ठस्थ हैं, तमिल से भी परिचय है। साहित्यिक जीवन के प्रारम्भिक दिनों में तस्लीम लखनवी के नाम से लिखते थे, जिससे बहुत से लोग—नाम के अलावा ज़बान की रवानी देखकर—उन्हें उर्दू का लेखक समझते थे।

नागरजी की विद्वता भाषाएं जानने तक सीमित नहीं है, वे अनेक

भाषाओं के साहित्य से अच्छी तरह परिचित हैं। कथा-साहित्य तो वे पढ़ते ही हैं, उसके अलावा पुरातत्व और इतिहास से उन्हें खास दिलचस्पी है। वे एक खानाबदोश, गैर-अध्यापक विद्वान् हैं जिनका दिमाग अद्भुत जानकारियों का पिटारा है।

एक कार्ड में परम उत्साहित होकर लिखते हैं: "चोरी करो, डाका डालो, भीख मांगो, पर डी० डी० कोसाम्बी का 'ऑरीजिन आव ब्रह्मन गोत्राज़' अवश्य पढ़ो।" (बम्बई 8 मार्च, '52)

ब्राह्मण गोत्रों के संसार से वे अवध के नवाबों की दुनिया में पहुंच जाते हैं और इतिहास तथा जनश्रुतियों का तालमेल बिठाते हुए लिखते हैं: "मछली के सम्बन्ध में गार्डन आव इण्डिया नामक पुस्तक में पढ़ा कि प्रथम नवाब सआदतखां यह निशान लाए थे, उन्होंने लखना अहीर की गढ़ी को यह नाम दिया। एक यह किंवदन्ती पहले सुनी थी कि मच्छी भवन में 26 कमरों के दरवाज़ों पर 52 मछलियां बनी थीं, उसीसे यह नाम पड़ा। लेकिन एक बात है, सआदत खां ईरानी शिया इसे कहां से लाए। मुगलों के निशान में एक 'माही' भी है, पर ये माही सीधी होती हैं। मेरा विश्वास है ये अवध में सआदतखां से पुरानी है।" (लखनऊ, 9 अक्तूबर, '56)

नागरजी को इतिहास से प्रेम है और इतिहास में भारत के इतिहास से, भारत के इतिहास में अवध के इतिहास से और अवध के इतिहास में राजा बेनीमाधो और हज़रत महल के इतिहास से उन्हें विशेष प्रेम है। अवध के इतिहास की जितनी गहरी जानकारी नागरजी को है उतनी, मेरी परख के अनुसार, किसी इतिहासकार को नहीं है। जानकारी के अलावा उनकी मर्म-दृष्टि तथ्यों की तह के नीचे सत्य की भागीरथी का पता उस सहज बुद्धि से लगा लेती है, जो उनके कलाकार की विशेषता है।

'शतरंज के मोहरे' नाम का ऐतिहासिक उपन्यास लिखते हुए उन्होंने एक सदी पहले के इतिहास के बारे में लिखा था : 'उपन्यास का पहला परिच्छेद मैंने सन् 1822 ई० में—गाजी उद्दीन हैदर के काल में—देखा है। मुझे अपने देश की दशा देखने को मिल जाती है। गदर

अंग्रेज़ों की सेना में हुआ, क्रांति अवध, बुन्देलखण्ड और बिहार के किसानों और स्त्रियों में उदय हुई। गदर में सामंतों की नेताशाही का अन्त हुआ। उसे पूरे रंग में देखना मैंने आवश्यक समझा, इसलिए कथा का सूत्र उस काल में उठाया है जब शाह अवध के बेटे नसीरुद्दीन हैदर का बेटा हुआ है। दादा कहता है ये मेरा पोता नहीं। दादी पोता कहती है। बाप कभी कहता है, कि मेरा बेटा है, कभी इन्कार करता है। इस राजनीति में वह औरत जो बच्चे की मां है—समाज की फब्तियों का शिकार है। भैयो, लक्ष्मीबाई और हज़रतमहल, कानपुर की तवायफें, अवध, बुन्देलखंड और जगदीशपुर की स्त्रियां—कुछ यों ही न निकल पड़ी होंगी। जाने किन-किन अत्याचारों की घुटन विद्रोह का एक ज़बर्दस्त बहाना पाकर दुर्गा रणचण्डी बन निकली है। देखो यार, मेहनत अपनी, आगे राम मालिक है।" (लखनऊ, 31 दिसम्बर, '56)

इतिहास में नागरजी को देश की त्रस्त जनता के दर्शन होते हैं। उनकी निगाह समाज के उन वर्गों पर जाती है, जिनमें विद्वान् लोग वीरता की कल्पना भी नहीं करते। स्त्रियों की समस्याओं, उनकी अपार शक्ति और वीरता, उनके रीति-रिवाज़ और विश्वासों के वे अनुपम चितेरे हैं। वर्तमान समाज की व्यापक जानकारी के बल पर वे इतिहास को परखते हैं और इतिहास की परख के बल पर वे वर्तमान का तानाबाना सजाते हैं। अवध से उनका प्रेम देखकर ईर्ष्या होती है। 'गदर के फूल' जैसी पुस्तक वही लिख सकते थे। अठारह सौ सत्तावन में जहां लड़ाइयां हुईं थीं, वहां जाकर, बूढ़ों को खोजकर, उनसे किंवदन्तियां संग्रह करके, बोली-बानी की सजीव नकल करते हुए, जीवित पुरुषों के रेखाचित्रों से इतिहास की स्मृतियों का समन्वय करके नागरजी ने इतिहास-दर्शन के साथ ललित कला के आनन्द की सृष्टि भी की है। जिस वर्ष वह पुस्तक लिखी थी, उन्होंने एक पत्र में अवध का यह मूल्यांकन किया था: "1857 ई० में अवध देश (की) सब नाड़ियां छूट जाने के बाद भी भारत का वज्र कठोर कोमल फूल-सा हृदय बन कर धड़कता रहा।" (लखनऊ, 25-26 अप्रैल, '57)

नागरजी में सबसे बड़ा गुण यह है कि वे अपने पात्रों में घुलमिल कर अपनपौ खो देते हैं। उनका कलाकार दूसरों के अस्तित्व में ही अपने को पहचानता है। वे पात्रों के नख-शिख, बोली-ठोली की विशेषताओं के अलावा उनके मन में पैठकर उनकी आशाओं- आकांक्षाओं के साथ सांस लेते, दुख सहते और संघर्ष करते हैं। नागरजी की ससुराल और ननिहाल आगरे में हैं। ससुराल की बैठक की छजली पर जमने वाले गोकुलपुरे के ठठेरों की बातचीत सुनकर उन्होंने यहां की लोक-संस्कृति को आत्मसात कर लिया है। यहीं की उपज है 'सेठ बांकेमल' जिसमें बास्सा साजहां ने अपनी मलिका मुमताजमहल से कहा था—रोवै मती ना मेरी जान, तेरी आंखों का सुरमा बहा जाय है।

जिस प्रतिभा से लोक-कथाएं गढ़ी जाती हैं, नागरजी के पास उसका अक्षय भण्डार है। वे सुनते हैं, गढ़ते हैं, पात्रों की तरह बोलने लगते हैं, यथार्थ जीवन और कथा का भेद मिट जाता है, जीवन में इतना रस है, लोगों की बातें इतनी दिलचस्प हैं, उनका जीवन इतना रोचक है, नागरजी उसी में रम जाते हैं। गली-टोले-मोहल्ले, नौजवान, बूढ़े, प्रौढ़ा, मुग्धा, स्वकीया, परकीया, बुद्धिजीवी, व्यवसायी—इनके जखीरे हैं उनके कथा साहित्य में। ''बूंद और समुद्र'—-लखनऊ के सामाजिक जीवन का चन्द्रकान्ता, 'शतरंज के मोहरे'—इतिहास में नागरजी की ऐयारी का नमूना, 'सुहाग के नूपुर'—दक्षिण प्रदेश के प्राचीन जीवन की भीनी सुगन्ध, 'महाकाल'— अकाल के भयावह दृश्य, नवाबी मसनद'—लखनऊ के नीम सर्वहारा कादिर पीरू की दुनिया, 'सेठ बांकेमल'—आगरे की दालमोठ की तरह एकदम स्थानीय रंग लिए हुए, पचीसों रेखाचित्र, कहानियां, व्यंग्यकथाएं—दुर्भाग्य से नागरजी का समस्त साहित्य एक जगह प्रकाशित नहीं हुआ जिससे उनके अधिकांश पाठक उनकी कड़ी मेहनत, उनके साहित्य की विविधता, प्रसार और प्राणवत्ता का अन्दाज़ नहीं लगा पाए। यद्यपि यह सर्वसम्मत सत्य है कि वे हास्यरस के लेखक हैं, तथापि हास्य के अलावा उन्हें अन्य अनेक रस भी सिद्ध हैं। हास्य और श्रृंगार का घनिष्ठ सम्बन्ध तो भरत मुनि के ज़माने से प्रसिद्ध है। नागरजी मेरी मतिराम ग्रंथावली वापस नहीं करते,

इस कारण कि उसमें वे नायिका भेद का अध्ययन कर रहे हैं। वात्स्यायन के कामसूत्र की प्रशंसा करना आरम्भ करते हैं, तो मालूम होता है, आदिकाव्य की व्याख्या कर रहे हैं ! अद्भुत, वीभत्स और करुण में वे प्रायः अद्वितीय हैं। 'बूंद और समुद्र' की ताई और उस शमा के चारों तरफ उड़ने वाले परवाने मेरी बात का प्रमाण हैं। 'ये कोठेवालियां' में बद्रे मुनीर के गले हुए विकलांग तन का चित्र और लूलू तथा उसकी गृहस्थ वेश्या की कहानी मन को ऐसा झकझोरती हैं कि कला और रस की कल्पना ही हवा हो जाती है। इसमें सन्देह नहीं, नागरजी जहां बड़े हैं, वहां वे विश्वसाहित्य के बड़ों-बड़ों में हैं।

नागरजी को जब याद आ जाता है कि वे हाई स्कूल पास हैं, यह ज़माना विश्वविद्यालय के डिग्री प्राप्त कलाकारों का है, उन्हें कुछ मनोवैज्ञानिक या समाज शास्त्रीय गहराइयों में भी उतरना चाहिए तभी सज्जन, महिपाल आदि बुद्धिजीवियों के गवेषणापूर्ण व्याख्यान आरम्भ हो जाते हैं और इन पात्रों के भाषण से सन्तुष्ट न होकर नागरजी स्वयं भी मंच पर उतर आते हैं और अपनी तर्कपूर्ण (अर्थात् तर्कातीत) शैली से कला को मूक, निरुपाय, मर्माहत कर देते हैं, और चूंकि जिद्दी हैं, क्या मजाल, कोई 'बूंद और समुद्र' का एक वाक्य भी उनसे कटवा दे !

जब उन्हें अपने अस्तित्व का बोध होता है और हाई स्कूल पास वाला भाव चला जाता है, तब वे ऐसे नैसर्गिक कलाकार की तरह व्यवहार करते हैं कि उनकी हर बात में, हर शब्द में रस रहता है। बम्बई में पहली शाम जो मैंने उनके साथ बिताई, वहां के फुटपाथों की ज़िन्दगी के जो किस्से उन्होंने सुनाए, बम्बई में भटकने, सिनेमा की दुनिया में सर उठाने के संघर्ष की जो कहानी सुनाई, वह सब जीवित साहित्य थी। रूस से लौटने पर कुछ मित्रों के बीच वे तीन घण्टे तक अपने संस्मरण—हास्य रस के साथ विभिन्न व्यक्तियों के रेखाचित्र, बीच-बीच में नाटक का मज़ा उनके संवाद और अभिनय में—सुनाते रहे और श्रोता सब मन्त्रमुग्ध हो गए उनकी स्मृति पर, अनुभव को सजीव करने की कला पर, उनकी सहज वर्णन शैली पर। हां, कहीं आपने हिन्दी के मामले में नागरजी को अनजाने भी छेड़ दिया, तो दो-एक

घण्टे तक आपको उनकी सतेज वाणी की ऐसी आंच सहनी पड़ेगी कि आप समझेंगे, हिन्दी के परम शत्रु आप ही हैं।

वैसे नागरजी को क्रोध कम आता है। क्रोध न आना चाहिए, इस बात को वे जानते हैं। क्रोध जब आता है तब वे विवश हो जाते हैं, लेकिन थोड़ी देर के लिए। ज्यादा समय तक क्रोध आता है उन्हें अपने ऊपर, यह सोचकर कि क्रोध आया क्यों था। दरअसल क्रोध ही नहीं, अन्य भाव भी गड़ी गहराई से घुमड़ते हुए उठते हैं और धमाके के साथ फूटते हैं। कहना चाहिए, उन्हें जब-तब भावात्मक विस्फोट होता है, और मेरी समझ में उनके सहज, सरस विनोदी स्वभाव को स्थायी भाव का रूप देने में ये विस्फोट बड़े उपयोगी सिद्ध होते हैं। अस्थायी भावों की गैस निकल जाने के बाद उनका चित्त फिर पहले की तरह शान्त और निर्मल हो जाता है।

नागरजी हिन्दी के उन थोड़े-से कलाकारों में हैं, जो साहित्यिक जीवन के प्रारम्भ में दो-एक अच्छे उपन्यास लिखकर बुझ नहीं गए। उनकी कला बराबर निखरती रही है, उनके अनुभवों का पिटारा बराबर भरता रहा है, उनकी समझ बराबर पकती रही है। वैसे तो कला उनके समस्त परिवार में व्याप्त है—एक भाई प्रसिद्ध चित्रकार हैं, दूसरे भाई फोटोकार। दोनों लड़के लेखक-फोटोकार-अभिनेता सब कुछ हैं। बड़ी लड़की सुन्दर रेखाचित्रों में मोहल्ले की कहानियां लिख चुकी है; छोटी लड़की अभी विद्या प्राप्ति की सीढ़ियों पर है। नागरजी के घर का वातावरण पंचायती है। यद्यपि वे भाइयों में सबसे बड़े हैं, कुलपति हैं, फिर भी उनका रोब-दाब जितना मित्रों पर है, उतना घर वालों पर नहीं। मातृ सत्ताक समाज व्यवस्था में अनेक गुण हैं और श्रीमति प्रतिभा नागर खानाबदोश विद्वान् पण्डित अमृतलाल नागर के जीवन में अडिग शिला के समान है। अत्यन्त प्राचीनता प्रेमी परिवार में पलकर भी उन्होंने अदम्य साहस से लखनऊ में वेश्या जीवन बिताने वाली बहनों के उद्धार के लिए अथक परिश्रम किया है। अब यदि यह परिश्रम बन्द हो गया है, तो इसका श्रेय नागर जी को है, प्रतिभाजी को नहीं। गृहस्थी में जो हारी-बीमारी आती है, उसका सामना प्रतिभाजी को

ही अधिक करना पड़ता है, नागर जी का ज्यादा समय चिन्ता करने में बीतता है। वे जब कभी-कभी नागर जी को मेरे सामने डांटती हैं या मुस्कराते हुए उनकी शिकायत करती हैं, तब नागर जी की मुद्रा देखते ही बनती है और मुझे तो इसी जीवन में स्वर्गिक आनन्द की प्राप्ति हो जाती है।

नागर जी सैलानी जीव हैं। खुले हवादार कमरों में भी बन्द रहना उन्हें पसन्द नहीं। वे अधिकांश भारत का भ्रमण कर चुके हैं और एक बार विदेश यात्रा भी कर आए हैं। भांग का समुचित प्रबन्ध न होने से जल्दी ही लौट आए थे। लोगों से मिलने में उन्हें सहज आनन्द मिलता है। इस मिलने-जुलने के साथ वे हवा में सूंघते रहते हैं कि कहीं से पुरातत्व की गन्ध तो नहीं आ रही। लखनऊ में लक्ष्मण टीले को लेकर उन्होंने इतना हल्ला मचाया कि कुछ लोगों ने उनका नाम ही टीला-खोद नागर रख दिया। कठपुतलियों से लेकर नैमिषारण्य के कथा-वाचकों तक उनकी जिज्ञासा अपार है। पुराणों के बारे में उनकी जानकारी असाधारण है। उनके साथ थोड़ी देर बात करने पर भी आपको लगेगा कि आप भारत की लोक-सांस्कृतिक परम्परा के सजीव सम्पर्क में आ गए हैं। इस परम्परा में देवकी नन्दन खत्री का महत्त्वपूर्ण स्थान है। नौटंकी से लेकर तिलस्माती-ऐयारी-जासूसी उपन्यासों और कथा पुराण तक उत्तर प्रदेश की जनता ने जो कुछ पढ़ा या सुना है, वह सब नागर जी ने पढ़ा और गुना है। उनके सोचने-विचारने के ढंग पर, उनकी गद्य-शैली पर इस सब पढ़े-गुने की छाप है। अठारह सौ सत्तावन पर मेरी पुस्तक से प्रसन्न होकर उन्होंने लिखा था : "तुम सचमुच गदर तिलस्म के देवकी नन्दन खत्री हो।" (लखनऊ, 23 मार्च, '58)

साहित्य के कल्पना-लोक और आस-पास के सजीव संसार के बीच नागर जी के लिए कोई मैकमोहन रेखा नहीं है। वे आसानी से इस पार से उस पार आते-जाते रहते हैं। वे अक्सर अपने पात्रों के लहज़े में भी बातें करते हैं। नवाबी मसनद के नवाब साहब के लहजे में : "इस समय रात के सवा नौ बजे हैं और हम उसके बिना तड़प रहे हैं।"

(लखनऊ, 25 मार्च, '58) किसी को गलतफहमी न हो, इसलिए यह लिख देना आवश्यक है कि नागर जी की तड़प महज़ एक किताब के लिए है जिसे उनके एक मित्र उठा ले गए थे !

यह सुनकर कि मैंने अंग्रेजी में कोई किताब लिखी है, नागर जी बतर्ज सेठ बांकेमल फर्माते हैं : "भैयो, तैंने रंगरेजी में पोथी लिख मारी ! तैंने तो कमाल किया मेरे यार ! मैं तुझे बड़ी-बड़ी स्याबासी दूं हूं। मैं तेरे को तमिल का भौत भड़िया खिताप दे रह्या हूं : मुट्टाड़। वैसे मुट्टाड़ तो तू सदाका है ही।" (मद्रास, 10 जून, '46)।

कभी चलते-चलते देहाती लटका मार जाते हैं: "गोहूं डेढ़ सेर का हुइगा भैयन ! सियाबिल राम चन्द्र की जै।" (6 जुलाई, '48)

नागर जी सम्पादक भी रह चुके हैं, 'चकल्लस' के, 'नया साहित्य' के। बम्बई जैसे शहर में रहते हुए भी नया साहित्य की तरफ से सम्पादकीय तकाज़े में वे अपनी देहाती बान नहीं भूले: "चिट्ठी को तार मानना, थोड़ा लिखा बहुत समझना।" (बम्बई, 18 जून, '45)

नागर जी बहुत अच्छे दोस्त हैं। मेरा उनका साथ तीस साल का है। बहुत-सी बातों में मतभेद रहा है, अब भी है। इससे दोस्ती में फर्क नहीं आया। मित्र के रूप में उनकी एक विशेषता यह है कि कटु आलोचना करने में वे कभी नहीं झिझकते। पूछे बिना भी राय देते हैं और हमेशा दिल की बात कहते हैं। श्री भगवतीचरण वर्मा के एक उपन्यास की मेरी ध्वंसात्मक आलोचना पर नागर जी ने यह टिप्पणी की थी: 'जनवाणी' में 'टेढ़े मेढ़े रास्ते' की रिव्यू देखी। एक जबर्दस्त शिकायत भी हुई। जब तुम्हारे पास ठोस तर्कों की कमी नहीं, तब गन्दी कीचड़ उछाल की टेकनीक क्यों अपनाते हो ? बम्बई टाकीज़ के असफल लेखक या लीडर प्रेस का इतिहास दर्शन टेढ़े-मेढ़े रास्ते से कोई सम्बन्ध नहीं रखता। तुम्हें क्यों इस किस्म की बहस की जरूरत महसूस हो ? इससे कोई खास मकसद भी नहीं हासिल किया। आलोचना व्यर्थ ही अपनी तेज़ी खो बैठती है। तुम्हारे ऐसे गंभीर और विचारवान आलोचक से यह छिछोरापन पाना किसी तरह भी न्याययुक्त सिद्ध नहीं किया जा सकता। (लखनऊ, 22-29 अगस्त, '48)

नागर जी जो बात कहते हैं, वह बेलौस होती है और उसे वे मुंह पर कहते हैं। मुझसे ही नहीं, बरसों से बहुतों से उनकी दोस्ती है, शायद उसका रहस्य यही है। वे अपनी पीढ़ी के तमाम लेखकों को जोड़ने वाले, और नई और पुरानी पीढ़ी के बीच की कड़ी हैं। बहुत पहले 'चकल्लस' के दिनों में उनका घर—'चकल्लस' का दफ्तर—निराला जी, बलभद्र दीक्षित पढ़ीस, नरोत्तम नागर, ज्ञानचन्द्र जैन आदि नये-पुराने साहित्यिकों के जमघट के लिए अड्डा बन गया था। तब से उनकी वह चुम्बक-शक्ति बराबर बढ़ती गई है।

और व्यवसाय बुद्धि उनमें न पहले कभी रही, न अब है। फिल्मों की दुनिया में रहे, आकाशवाणी में काम किया। हर जगह पण्डितजी की आवभगत रही। लेकिन पण्डितजी महास्वाभिमानी, नाक पर मक्खी बैठी नहीं कि छड़ी उठाकर फाटक के बाहर हुए। इसलिए हिन्दी पर और हिन्दी लेखक पर जो बीतती है, उसे नागर जी आप बीती के रूप में महसूस करते हैं। निराला जी का देहान्त होने पर उन्होंने जो खीझकर लिखा था कि हिन्दी के समस्त लेखक एक साथ दिवंगत हो जाएं, उसका रहस्य यही है। लेखक बनकर स्वाभिमान के साथ जीवित रहना हिन्दी साहित्य संसार में ज़रा मुश्किल काम है। नागर जी सब कुछ झेलते जाते हैं, उनकी अदम्य सृजन-चेतना विघ्न-बाधाओं को पार कर जाती है, उनकी क्रीड़ा-कुतूहल-वृत्ति उदासी के बादलों को बिखेर देती है, फिर भी काफी दिनों से, बीच-बीच में, थकान के, पस्ती के, गिरकर चूर होने के स्वर भी सुनाई देते हैं। नागरजी पाठकों को जितना सुख देते हैं, उसके पीछे काफी थकान, और उनके खिलाफ उनका अनवरत संघर्ष है।

जिस पत्र में उन्होंने मुझे डांट बताई है (टेढ़े मेढ़े रास्ते की आलोचना के लिए), उसमें उनकी परेशानियों और संघर्ष की झलक देखते ही बनती है। पत्नी बीमार है : "प्रतिभा को आराम करने पर मजबूर किया गया है। एक्सरे स्टूल-ब्लड परीक्षा हो गई। यों तो पूरी तौर पर सुरक्षित हैं, मगर कमज़ोरी से निगाह नहीं चुराई जा सकती। एक्सरे से भी यही जाहिर है। घर में कामकाज की नई व्यवस्था—

अंतरिम सरकार की तरह भूकम्प क्षेत्र से गुज़र रही है। मगर हम बगिया लगाने पर डटे हैं भैया।"

और नागर जी परेशानियों से लड़ते हुए खिड़की से बाहर देखते हैं: "बरसात में धानी चमक और सांवली सी सजी हुई हरियाली मीलों तक से अंतरिक्ष को खींचे हुए बांध रही है। हमारे सामने कम्पनी बाग है जो अब महात्मा गांधी की स्मृति में ढिंढोरों के भोंपुओं से महात्मा गांधी पार्क कहलाता है।"

फिर उन्हें चुहल सूझती है, और कुछ-कुछ नवाबी मसनद के लहजे में बोलने लगते हैं: "मलका टूरिया की मूरत उसी तरह डटी है—निस्तब्ध शान्त। आज भी एक बुड्डा हर गुरवार को फूल का दोना चढ़ाने आता है। मच्छी भवन और इमामबाड़े की बुर्जियों और मस्जिद के दिखलाई पड़ने वाले हिस्से भी अपने पुरानेपन के साथ कुदरत से हिलमिल गए हैं। एक तरफ घंटाघर है—एक बड़े ही अच्छे व्यू में मूसरचंद की तरह लगता है—फिर भी अपना एक व्यक्तित्व रखता है। उसकी अपनी विशेषता है।"

इसके बाद अचानक थकान की आवाज़: "हमारे सामने की सड़क अब थक गई है भैयो। बेहद थक गई है। गो तमाम पुरानेपन में ज़िन्दगी का पुराना ढांचा अब भी कायम है; मगर ज़माना बदल चुका है। सलवार, ढीले पजामे, सिंधी पंजाबी पड़ोसी, और लड़ाई-महंगाई—आज़ादी की छाप स्पष्ट है। हमारे कादिर पीरू अब उतने निश्चिन्त और मस्त नहीं रहे। हालांकि अब भी बरफ और तम्बाकू उसी तरह बिकती है, मगर चर्चे अब नहीं होते। लड़ाई का दौर दौरा हर तरफ है। फिर भी पुरानी फिज़ा कभी-कभी भूलकर बहार दिखा जाती है। एक दिन खयाल-चौबोले हो गए, एक दिन तीतरों की लड़ाई हो गई, शहज़ादी कबड़िन हज करने गई तो हिना के इत्र और हारों का ज़ोर हो गया—यह सब हुआ मगर मेरी नवाबी मसनद सूनी ही रही।"

फिर थकान की बात: "शायद अपने में भी अब मज़ाक का हौसला कम पाता हूं। मन के किसी कोने में थकान [illegible] है। जी चाहता है, मर जाऊं। काम, फर्ज़ सब भा[illegible] मुझे

गया है। फिर भी ज़िन्दगी अपनी आन पर डट जाती है। बात बिगड़ने पर बनाने की इच्छा हज़ार अड़चनों से घिरी रहने पर उसे तोड़ने के लिए ज़िद के साथ आगे बढ़ती है। मगर यह चिढ़-चिढ़ कर हौसला बढ़ाना सच्ची स्फूर्ति और शांति नहीं देता। हर बार मन पर उस खीझ का स्थायी प्रभाव पड़ता है—बात या काम बन जाने की सफलता ऊपरी और खोखली हो जाती है, फिर भी बढ़ तो रहा ही हूं।"

घर की बात सोचते हैं। अपने हौसले पस्त होते देखते हैं, कादिर पीरु, मलका टूरिया और थकी हुई सड़क देखते हैं, और नागरजी फिर आगे बढ़ चलते हैं। ये बातें सन् 1948 की है।

दो साल बाद : "पैसे की समस्या मैंने समझा था कि हल हो गई, परन्तु विधिना के विधान में अभी मेरे लिए बोनस छोड़कर खरी मेहनत के पूरे पैसे भी नहीं पास हुए। खैर, अब इस मुस्तकिल फिक्र को लेकर कहां तक बुखार चढ़ाऊं। यह ज़रूर है कि अब इस अनिश्चित जीवन को लेकर कहीं थक गया हूं। काम उतना नहीं कर पाता जितना कि करना चाहता हूं। बहुत खींचना पड़ता है।" (लखनऊ, 11 अक्तूबर, '50)

इस देश में वह दिन कब आएगा जब नागरजी जैसे लेखकों को खींचना न पड़ेगा, जब अनिश्चित जीवन की चिन्ताओं से उन्हें असामयिक थकान का अनुभव न होगा ?

छह साल बाद आकाशवाणी में काम करना छोड़ दिया और अपनी नई अनिश्चित जिन्दगी पर हंसते हुए लिखा : "तुम्हारे कार्ड का उत्तर देने में आवश्यकता से अधिक विलंब हो गया। मन मकड़ी के जाल में फंसा हुआ था। चाकरी के टूटे तार को जोड़कर नया सूत कातने के लिए बंधुवर नरेन्द्रजी ने बड़ा प्रयत्न किया, दोनों तरफ सम्भाला, पर गल्ल बणी नईं जी। किसी डगर-चलते महाकवि ने क्या खूब कहा है कि 'दिल-फटे मिल जाएंगे हिरदै-फटे मिलते नहीं।' दिल शब्द में रोमानियत 'हृदय' शब्द में असलियत। खैर, थोड़ा लिखा बहुत जानना। सो, इस फेर और नये जमाव के लिए तैयारी करने में ही मन को फुरसत न मिली। क्षमा करना।"

सूत, फिर सूत्रधार, फिर कठपुतली। नागरजी उसी पत्र में उमंग से कठपुतलियों की चर्चा छेड़ देते हैं। भरत के नाट्य शास्त्र, वात्स्यायन के कामसूत्र, मिस्र, यूनान और जावा की कठपुतलियों का हवाला देने के बाद वे राजपूत काल से चलते हुए शिवजी के प्रागैतिहासिक युग में पहुंच जाते हैं : "एक किंवदन्ती मिली : सुनते हैं शिवजी—योग और कलाओं के खुदा—एक कठपुतली पर रीझ गए थे, उन्होंने सारे देवताओं को उसमें उतार दिया। इस तरह कठपुतली बनकर पहले देवता नाचे बाद में राजस्थान के राजा। हमारे यहां 'ओढ़री' गुलाबो और 'ब्याहता' शिताबो का नाच भी प्रचलित है। यों आज का जमाना कठपुतलियों के नाच की भर जवानी का है। मानते हैं?" (लखनऊ, 14 सितम्बर, '56)

फिर भी अनिश्चित जीवन की थकान उन्हें समय-समय पर सताती रही।

दो साल बाद जब कुछ मित्र आगरे से 'समालोचक' पत्र निकाल रहे थे—नागर जी ने बराबर लिखने का वादा किया था, लेकिन वादा पूरा न कर पा रहे थे। मेरे एक शिकायती पत्र के बाद उन्होंने शिष्टता का अग्निबाण फेंकते हुए लिखा था : "डॉक्टर साहब, आपने मनों-बोरियों लदा ठेला खींचने वाले बैल को देखा है कभी? चलते-चलते धूपभरी तपती सड़क पर टांग पसार कर लेट जाए तो, आप क्या कर लीजिएगा? संदेह कीजिए, मारिए, गालियां दीजिए, भीड़ लगाकर सबके सामने उसे ठुकराइए—वह उठ नहीं सकता, हांफ हांफ जाता है, आराम चाहता है। इस समय तुम्हारी जैसी अनेक शिकायतों भरी चिट्ठियां मेरे पास हैं। बम्बई से चि० रतन का अचरज भरा, प्रश्न भरा पत्र आया है। कलकत्ता के एक संपादक मित्र ने लिखा है, 'क्या आप किसी के बहकावे में आकर हम को पत्र का उत्तर नहीं देते, रचना नहीं देते।"

इसके बाद एकदम हैमलेट की आवाज़ में : "तुम्हारी कसम, हम इस समय हांफ-हांफ कर जी रहे हैं। उसे ही बटोरकर एनर्जी बनाते हैं—लिखते अवश्य हैं पहले उपन्यास फिर रफ्ता-रफ्ता एकाध फरमाइश।"

और पत्र के अन्त में : "बड़ी महंगाई है रामविलास, हमें 'महाकाल' याद आ रहा है, उसके चित्र चारों ओर डोल रहे हैं। महंगाई एक प्रश्न बन गई है।" (लखनऊ, 9 सितम्बर, '58)

यह सब तो आपसी पत्र व्यवहार में। 'सारिका' (सितम्बर 1962) के एक लेख में उन्होंने सरेआम कबूल किया : "अब तो यह जानता हूं कि आत्महत्या कर नहीं सकता, इसलिए नियत आयु तक जीना है। काम न करूं तो जीऊं कैसे ?"

नागर जी अभी सिर्फ अड़तालीस साल के हैं। थकान और हंफनी की बातें असामयिक हैं, लेकिन निराधार नहीं हैं। थकान मानसिक है, शारीरिक भी, लेकिन उनकी रचनात्मक प्रतिभा पर उसकी छाया भी नहीं पड़ती। उनके साहित्य की ताज़गी बढ़ रही है, घटने का सवाल नहीं है। उन्होंने जितना, जो कुछ लिखा है, उससे अधिक और अच्छा अभी और लिख सकते हैं और यूरोप की भाषा में जिन्होंने गद्य में जो कुछ अच्छे से अच्छा लिखा है, उससे स्पर्धा करने की ताकत नागर जी में है। इसीलिए मुझे उनके जीवन में ऐसा निजी और गोपनीय कुछ नहीं दिखाई देता जिसका सम्बन्ध कहीं न कहीं हिन्दी भाषा और साहित्य की प्रगति से न हो।

उनकी कुछ परेशानियां तो ऐसी हैं, जो हमारे समाज के प्रायः सभी आदमियों के हिस्से में आती हैं। किन्तु इनसे अधिक झकझोरती हैं, उन्हें उनके अनिश्चित जीवन की परिस्थितियां—स्वाधीन भारत में एक स्वाभिमानी, न बिक सकने वाले, न समझौता कर सकने वाले हिन्दी लेखक के अनिश्चित जीवन की परिस्थितियां। यहां उनका जीवन बहुत से हिन्दी लेखकों की ज़िन्दगी का प्रतीक बन जाता है। शायद यहां हम उनका भार हल्का करने के लिए कुछ कर भी सकते हैं। हिन्दी लेखक बोनस नहीं चाहता, महज़ अपनी मेहनत की मज़दूरी चाहता है, इन्साफ और ईमान से दी हुई मज़दूरी। क्या ही अच्छा हो, बड़े-बड़े प्रकाशक हर साल यह भी प्रकाशित कर दिया करें कि अपने लेखकों को रायल्टी के हिसाब में उन्होंने क्या दिया। शायद हिन्दी का विशाल बाज़ार देखते हुए उन्हें कुछ शर्म आए, शायद लेखक ही खुद सहकारिता

की तरफ बढ़ें, सहयोगी प्रकाशन खोलकर अपनी पुस्तकें छापने-बेचने का प्रबन्ध अपने हाथ में लें। नागर जी का जीवन हिन्दी पाठकों, लेखकों और समस्त हिन्दी प्रेमियों के लिए एक चेतावनी है, जिसका अर्थ समय रहते उन्हें समझ लेना है।

हाई स्कूल पास पं० अमृतलाल नागर को ज़िन्दगी के विश्वविद्यालय से सब डिगरियां मिल चुकी हैं। किंग लियर की तरह परिस्थितियों ने मरम्मत करके उनका नख-शिख दुरुस्त कर दिया हैं। अब न एक आंच की कसर है, न दो की; वे खूब तप चुके हैं और हिन्दी की सेवा करने के लिए पूर्ण योग्यता प्राप्त हैं। 'सारिका' में अपनी एक तमन्ना के बारे में उन्होंने लिखा था: "मेरी एक तमन्ना जरूर है, एक दिन अपनी किताबों की रॉयल्टी पर ही निर्वाह करने लायक बन जाऊं। जी चाहने पर किताबें खरीद सकूं, घूम सकूं।···सच पूछो तो बस एक ही साध है, लिखते-लिखते कोई ऐसी चीज़ कलम से निकल जाए कि मैं सदा के लिए इनसान के दिल में जगह पा लूं।"

मुलाहिज़ा हो, यह हौसलापस्त लोगों का हौसला है !

(धर्मयुग, अगस्त '64)

सूफी कवि केदारनाथ अग्रवाल

उत्तरप्रदेश के शहर बांदा में एक सूफी कवि रहते हैं, जिनका नाम है केदारनाथ अग्रवाल। इनका पेशा वकालत है जिसके वह नाकाबिल हैं। पैंतीस साल हुए होंगे, जब उन्होंने यह पेशा शुरू किया था। तब उनका एक शगल यह था कि शहर के बाहर जाकर केन नदी के किनारे रेत पर पैर फैला कर बैठ जाते थे और नदी का पानी, पेड़, चट्टानें, चिड़िया वगैरह-वगैरह देखते हुए इनमें और अपने में खो जाते थे। उस समय उन्होंने एक कविता लिखी थी :

दोनों हाथ में रेती है, नीचे अगल-बगल रेती है…
रेती पर ही पांव पसारे, बैठा हूं इस केन किनारे—

(किरण, आगरा, अक्तूबर, 1935)

आगे चलकर वह वकालत में कितनी बड़ी सफलता पाने वाले थे, इसकी भविष्यवाणी 'दोनों हाथों में रेती है' लिखकर उन्होंने कर दी थी !

नदी के किनारे जब वह ध्यानमग्न बैठते थे, तब उन्हें यह ध्यान न रहता था कि पांव पसारे या पाल्थी मारे वह खुद बैठे हैं या नदी किनारे का पत्थर, ऊपर वाली कविता के बहुत दिन बाद उन्होंने लिखा था :

केन किनारे पल्थी मारे
पत्थर बैठा गुमसुम।

पाल्थी मारकर बैठे थे वकील साहब खुद, लिख गए कि पत्थर पाल्थी मारे बैठा है। ऐसे आदमी की वकालत क्या खाक चलती ?

बीस साल वकालत करने के बाद उनके मन में शक पैदा हुआ कि पेशा गलत तो नहीं चुना है। दुनिया के मामलों में मुझे बहुत अनुभवी समझ कर उन्होंने अपनी मुसीबत बयान की और राय मांगी

—"मैं तो पांव बांधकर यहां रुपये चुगने की टोह में रोज़ न्यायालय के चक्कर काटता हूं, परंतु एक भी मुवक्किल आजकल नज़र नहीं आता। पता नहीं अब क्या काम करना पड़े। कुछ तो राय दो। वरना धूल फांक कर पेट पालना असंभव है।" (26-12-55)।

मैंने उन्हें सलाह दी कि अभी वकालत करते रहो, कहीं अध्यापक की जगह खाली हो तो उसके लिए अर्जी भेज देना।

कुछ साल बाद वह सलाह मशविरे के लिए आगरा आए। खूब कविताएं सुनी और सुनाईं; उन्होंने अपनी सुनाईं, मैंने दूसरों की। चार दिन तक खूब गपशप रही और कचहरी आने-जाने की बात एक बार भी न हुई। आगरे से झांसी तक ट्रेन में वह ध्यानमग्न 'एकासन' बैठे रहे। झांसी से बांदा तक एक दर्शन शास्त्र की किताब पढ़ते रहे। बांदा पहुंच कर उन्होंने वकालत की तैयारी घर और जूतों की सफाई से शुरू की।

"आज घर पर रहा। सवेरे सामान ठीक करता रहा। कमरों की धूल साफ की। कानून की किताबों की चुप्पी तोड़ी और उनकी गर्दन से मैल छुड़ाता रहा। मेज़ पोंछी। बाद को एक मुवक्किल दस दे गया, एक नोटिस लिखाकर। फिर जूतों को अपने हाथ से चमाचम करता रहा। जानते हो न कि अपने जूतों को चमकाना (भाववादियों के दर्शन के मतानुसार) न चमकाने के बराबर है। मगर वह चमके हैं। उनकी यह चमक उन दार्शनिकों के ब्रह्म की निरपेक्ष चमक है जो शायद कहीं अदृश्य रहती है।"

जूतों की चमक और ब्रह्म की निरपेक्ष सत्ता पर गंभीर चिंतन करने के बाद जब कचहरी जाने का समय आया तब वकील साहब खाट पर लेट गए।

"दोपहर खाना खाकर विश्राम करता रहा। आज कचहरी जाने का मन ही न हुआ। मैंने भी काम न होने का बहाना पाकर कचहरी का मुंह नहीं देखा। जाता तो जूते मैले कर और रूखे धुले बालों में गर्द जमा कर खाली-खीसा घर लौट आता। तब शायद कुछ उदास हो ही जाता। नहीं गया इसी से पूरे उत्साह में रहा।"

घर की सफाई करने से बालों में धूल जम गई थी। बड़ी मेहनत से साबुन लगा-लगा कर सर रगड़ने के बाद जिन मुलायम बालों को उन्होंने स्वच्छ किया था, उनमें अब धूल क्या जमने देते ! जितना खयाल बालों की स्वच्छता का था, उतना ही पालिश किए हुए जूतों की चमक का। कानून की किताबों की गर्दन से मैल छुड़ा ही चुके थे, तसल्ली के लिए एक मुवक्किल भी दस रुपये दे गया था। वह शाम को ही घर से बाहर निकले, जब कचहरी से उदास लौटने का खतरा न रहा।

"फिर शाम कहे-अनुसार अकेले टहलने गया। दूर तक खेतों की ओर। देखा कि यहां तो हरियाली का अकाल है और सरसों का पता ही नहीं है। क्या कोई चुरा ले गया है ? कुछ भी पता न चला कि क्या माजरा है।"

बस चलता तो सरसों की चोरी करने वाले पर नालिश कर देते लेकिन उसका पता न था और पता लगाने में पुलिस मदद न कर सकती थी। आगरे में वह हरे-भरे खेतों की सैर कर चुके थे। इसलिए बांदा में सरसों को न पाकर उनकी समझ में यह और भी न आया कि आखिर यह माजरा क्या है। अपने प्रदेश की हीनता पर कुछ उदास हुए लेकिन उनके मन को ज्यादा देर तक उदास रहने की आदत नहीं है। मन को उन्होंने समझा लिया।

"तुम्हारे यहां की धरती ने तो कलेजा चीरकर लहलहा कर हरियाली और पीली सरसों चारों ओर फैला दी। यह देखकर कुछ खिन्न भी हुआ अपने प्रदेश की भू माता पर। पर यह विचार कर कि देर में ही सही हरियाली होगी और सरसों फूलेगी फरवरी के महीने तक, प्रसन्न हो गया। यह स्वभाव हमारे चटियल मटमैले प्रदेश का है कि योगिराज शिव की तरह रहते हैं और जब कामदेव बाण साधते हैं और पार्वती तपस्या करती हैं तब बड़ी मुश्किल से भावोद्रेक की अवस्था में आते हैं।"

फिर घर लौटे और कविता लिखने बैठ गए। कविता लिखकर खुश हुए : "कहिए जनाब ! है न कुछ काम की कविता !" फिर आगरे

के बारे में सोचने लगे! "देखो, कब तक यह रूप-रस-गंधका खजाना मेरे मन के भीतर भरा रहता है। इस समय भी तुम्हारे घर में बैठा हूं जैसे इतनी ताज़गी थी उन कविताओं में, इतना उदात्त स्पंदन था उन सब रचनाओं में कि काल उन्हें मलिन नहीं कर सका और न कर सकेगा।"

कविता के अमरत्व पर चिंतन करने के बाद उन्हें ध्यान आया कि रात बीतने पर सबेरा होगा और सबेरा होने पर कचहरी जाना होगा। तब उन्होंने हिसाब लगाया :

"अभी कल भी कुछ काम नहीं है। दिन सूखे ही जाएंगे, कचहरी के, पर विचार है कि कल जाऊंगा। कुछ मिलेगा तो जेब में रखकर लौट आऊंगा। कुछ खुश-खुश, अन्यथा आंख नीची किए सरक आऊंगा। अदेखा जैसा।

"अभी कविता गूंज रही है। वह निकले चाहे जैसी, लिखूंगा ज़रूर।" (30-12-58)।

कविता की गूंज सुनते हुए वह खपरैल के नीचे बरामदे में सो गए।

सरसों से उनकी पहचान बहुत पुरानी है। हर साल उसके आने की राह देखते हैं, उसका ब्याह रचाते हैं, फागुन का गीत सुनते हैं :

और सरसों को न पूछो—
हो गई सब से सयानी,
हाथ पीले कर लिए हैं,
ब्याह मंडप में पधारी;
फाग गाता मास फागुन
आ गया है आज जैसे।
देखता हूं : मैं स्वयंवर हो रहा है
प्रकृति का अनुराग अंचल हिल रहा है
इस विजन में,
दूर व्यापारिक नगर से

प्रेम की प्रिय भूमि उपजाऊ अधिक है।

इस उपजाऊ भूमि में कविता सहज भाव से उपजती है, वकालत की फसल के लिए वह अनुपयुक्त है।

जब सरसों फूली हो, तब घर में बैठकर कोई किताबें पढ़े, यह बात सोचकर ही वह तिलमिला उठते हैं। बांदा में बैठे हुए वह देखते हैं कि आगरे में, घर के भीतर बंद, किताबें पढ़ रहा हूं। उनका धीरज छूट जाता है और वह डांटना और उपदेश देना शुरू करते हैं:

"अब अधिक चुप नहीं रह सकता। तुम्हें ज़िन्दगी भर किताबें लिखना है। ज़िन्दगी भर तुम शब्दों के धरातल पर रेंगोगे। मैंने सोचा कि पत्र भेजकर तुम्हें न छेड़ूं और अब तक चुप रहा। मगर तुम अपना काम छोड़ोगे नहीं और मैं हूं कि मैं अब मौन नहीं रह सकता। कैसे मनहूस हो कि बंद कमरे में शब्दों के साथ खेलते-कूदते हो और बाहर के मैदान में आकाशी छलांग नहीं लगाते। देखो मौसम की मुस्कान और रंगीन जामा। मस्त हो जाओगे। दिन गरम होने लगे। जैसे तुम्हारे घर का गरम हलुवा। शामें दिल पर उतर आती हैं, पंखों के रंग फड़फड़ा कर बसेरा लेने के लिए। सुबहें बड़ी शर्म से लाल रहती हैं, रात कहीं बसी रहने के कारण। हवा में और पानी में जो शीतलता रहती है, वह बड़ी ही प्रिय है। काश मैं भी आगरे में होता तो तुम्हें घसीट ले जाता धूप के पास। अच्छा महाशय जी, अब किताब लिखना बंद कीजिए, हम ऊब रहे हैं।" (23-2-60)।

इस मौसम में केदार को जो न दिखाई दें, जो न सुनाई दे, वह थोड़ा है। मुझे बंद कमरे में छोड़कर वह आकाशी छलांग मारते हुए पहाड़ी के पास पहुंचे।

चोली फटी सरस सरसों की
लहंगा गिरा फागुनी नीचे
चूनर उड़ी अकासी नीली
नयी हुई पहाड़ी देखो।

आप कहेंगे कि अच्छे सूफी कवि हैं, किसी की चोली फटी, किसी का लहंगा गिरा, इससे सूफीपन का क्या सम्बन्ध है?

आप शायद सूफियों को अच्छी तरह जानते नहीं। बड़े हज़रत होते थे ये। रूप-रस-गंधवाली दुनिया पर सौ जान से फिदा थे मलिक मुहम्मद जायसी।

दीन्हेसि जग देखन कहं नैना।
दीन्हेसि स्रवन सुनें कहं बैना।

संतों और सूफियों में यही फर्क था। संत लोग नारी के रूप की माया से दूर रहते थे। लेकिन सूफी—

कुंचुकि चूर चूर भई तानी,
टूटे हार मोती छहरानी।

वसंत में जब वनस्पति ने नया शृंगार किया और सिर में पलास के फूलों का सेंदुर लगाया तब :

सेंदुर-खेह उड़ा अस, गगन भएउ सब रात।
राती सगरिउ धरती, राते बिरिछिन्ह पात।

हमारे वकील साहब जैसे-जैसे प्रौढ़ होते गए, वैसे-वैसे उन पर वसंत का असर ज्यादा होने लगा।

"होली है। 'उड़त गुलाल लाल भये बादर'—करत कटाच्छ काल भये काजर—हम बैठे खोदित हैं गाजर—राम विलास लिखत हैं आखर। अर र र र र कबीर—खाओ दूध-मखाना-खीर।"

मौसम मस्ती का है। उम्र यों तो 50 के पास तक सरक आई है। पर अपने हिंदुस्तान की मिट्टी पानी में रहते-रहते अभी भी जवान होने का दंभ बाकी है। कहते हैं कि अपने भगवान शंकर भी फागुन में 'फगुनाय' गए थे···हम तो आदमी हैं। हमारे क्या कहने हैं। पत्थर होते तो असर न होता। दिल है, उसके कारण उसका जाल बड़ा विशाल है और फैलता ही रहता है। मगर फंसती एक भी मछली नहीं। वैसे हम मछली नहीं फंसाते। हम उसके व्यापारी नहीं हैं। न हम मांसाहारी हैं। अपने राम शाकाहारी हैं। अतः हम हैं कि अपना जाल हवा में फेंकते हैं और कविताएं पकड़ते हैं—वह भी बहुत कम फंसती हैं और फंसती भी हैं तो जुए के दांव में रात-दिन मथने के बाद कभी एक बार नक्की की तरह फंसती हैं। अच्छा हुआ कि आपने इस तरह का रोग

नहीं पाला। खूब हंसो हम लोगों पर। पूरा अधिकार है।

"आजकल भैरवी सुनने के दिन हैं। सबेरे-सबेरे उसकी नशीली रागिनी मिल जाए तो दरअसल एक महीने के लिए पूरा नशा चढ़ जाए।" (4-3-61)।

ऐसे आदमी को कोई क्या समझाए। सिर्फ भैरवी सुनकर एक महीने तक जो नशे में रहे, उसे होश में कौन लाए। वैसे यह ज़रूरी नहीं पाया कि कोई गाये, तभी उन्हें भैरवी सुनाई दे। एक वार महाबलिपुरम् के समुद्र तट पर बैठे हुए उन्हें उठती-गिरती लहरों में वाल्मीकि के श्लोक सुनाई देने लगे थे।

"नीला सागर हरा-हरा रहता था···आंखों में, दिल में नस-नस में वहां का समुद्र भर गया। पेवस्त हो गया। तुम्हारी भाषा में समुद्र मुझ में सीझ गया। तुमने लिखा है न कि गंगा का पानी बैसवाड़े की धरती में सीझ गया है। ठीक वही हाल मेरा हुआ। मैं समुद्र को सुनता रहा। उसकी भावभंगिमाएं देखता रहा। वह अहर्निश का पहरुआ कभी पराजित नहीं होता। आसमान क्या टक्कर लेगा उसकी ताकत से··· न जाने क्यों सागर की ध्वजाओं में मुझे सीता की याद आ गई जो परित्यक्त होकर राम को आज तक वाल्मीकि के छंदों से उपालंभ दे रही है। मुझे यही सुन पड़ता रहा कि राजा राम तुमने न्याय नहीं किया। तुम प्रजा-पुजारी भले रहे हो लेकिन तुम धरती की साध्वी सीता के प्रति अनुदार थे। ऐसी मनोदशा में मैंने समुद्र को देखा सुना है। एक घंटे तक यही सुनता रहा।" (16-3-59)।

वाल्मीकि की अथाह मानव-करुणा और उनके छंदों का अपराजेय संगीत उन्हें सागर की लहरों में सुनाई दिया। यह धरती का संगीत है जिससे आसमान टक्कर ले नहीं सकता, स्वभावतः उन्हें धरती की पुत्री सीता की याद हो आई।

बांदा में समुद्र नहीं है, बांदा में केन है। समुद्र के अभाव में उसी से संतोष करना पड़े, ऐसी बात नहीं है। समुद्र से ज्यादा यह छोटी-सी नदी उनके मन में बसी हुई है। मन में गहराई होना चाहिए, फिर केन क्या और समुद्र क्या! बहुत पहले किसी पत्र में उन्होंने लिखा था कि

इस नदी के किनारे कुछ छोटे-मोटे गोल-मटोल पत्थर मिलते हैं जिनमें किनारे के पेड़ों की हरी-भरी छवि दिखाई देती है। इसी तरह केदार के मन में बड़े गहरे अपने प्रदेश की छवि अंकित है। पत्थर पर चिड़ियों का झुंड बैठ जाता है, उन्हें लगता है कि पत्थर बोल रहे हैं। वह नदी किनारे जाते हैं, वह बादल की चादर ताने सो रही है।

मैंने उसको नहीं जगाया
दबे पांव घर वापस आया।

शाम हो गई, प्रकाश संध्या के साथ विदा हुआ। पीछे केवल मौन छूट गया—"केन पर, ठिठका, ठहरा।" कचहरी में बहस करने खड़े होते होंगे तो मन की पत्तों के नीचे केन बहती रही होगी!

"बांदा में गर्मी बहुत पड़ती है, झांसी-आगरे की तरह। उस पर कचहरी।

"मौसम तो तपा-तपन का है। जमीन जलती है—हवा जलती है—जूते-कपड़े-तलुवे सब जलते हैं। गरज कि प्यास के मारे बुरा हाल रहता है। शायद सेरों पानी पी जाता हूं। 11.5 से सुबह की कचहरी हो जाएगी। 6.30 बजे सुबह से 1 बजे दिन तक। तब तो समझो कि पिर जाऊंगा। चूर-चूर हो जाऊंगा। पर क्या किया जाए। पेट के लिए गर्भवती की तरह जिऊंगा। न खा पाऊंगा—न घूम-फिर सकूंगा।"

इस मौसम में उन्हें लगता है कि वकालत में तो असफल हुए ही, कविता में भी धूल में लट्ठ मारते रहे। मैं उनके गद्य की प्रशंसा करता हूं। ऊपर गर्भवती की उपमा देखिए। पूरे पद्मावत महाकाव्य में ऐसी सटीक उपमा न मिलेगी। लेकिन गद्य की प्रशंसा उन्हें अच्छी नहीं लगती।

"हम कुछ नहीं लिखते। हम तो कभी मूसर मारते हैं, तो कभी जूते गांठते हैं, तो कभी किसीके केस सहलाते हैं तो कभी कला की वला में मच्छर मारते हैं और अपने खून से जमाने की नजर में शहीद बनते हैं। सब चलता है। कोई रंज नहीं है। कोई गम नहीं है। इतने पर भी यह उमंग तो है ही कि मरते दम तक कविता का साथ दूंगा—छोड़ूंगा नहीं। भले बुरे की पहचान समय करेगा।

" निराला की मृत्यु ने एक शून्य छोड़ दिया है जो पूरा न होगा। अब उनके साथ के संपेरे नाग नचा रहे हैं—मउहर बजा रहे हैं और पैसे और नाम कमा रहे हैं। यह भी हो रहा है। खूब है। रंग है। मगर यार, न वैसा जानदार कवि पैदा होगा।" (4-5-64)।

मेरे दोस्त का मन उदास है। मौसम की वजह से, अपनी कविता के प्रति लोगों की—और मेरी—प्रतिक्रिया से, निराला की मृत्यु से। निराला की मृत्यु को तीन साल हो चुके थे लेकिन मन का सूनापन भरता नहीं है। कचहरी अलग परेशान करती है लेकिन मन कविता से बंधा हुआ है।

एक बात दिलचस्प है कि उनके मन की यह हालत तब होती है जब उनकी पत्नी बांदा से बाहर होती है। ऊपर वाला पत्र लिखते समय उनका परिवेश यह था :

"इधर अकेले हैं। खूब पंखा चलाते हैं। पंख पसारकर एकाध बार उनका नाम लेकर सोते हैं। कहीं कुछ खाली लगता है पर करें तो क्या करें।"

एक दूसरे पत्र में ऐसा ही परिवेश :

"बीवी प्रयाग गई हैं।

"अकेले हैं। कचहरी है और कविता का चरखा है। जय हो बिरस और सरस का यह योग और भोग।"

इस पत्र में वह कई कविताएं लिख भेजते हैं, हर कविता के बाद दो-चार उल्टी-सीधी मुझे सुना देते हैं, यह मानकर कि कविताएं मुझे पसंद न होंगी।

"तुम कहोगे कि कविता बोझिल है…

" तुम भी कहोगे कि यह भी कोई कविता है! न हो, मेरी बला से…

" यह तुम्हें पसन्द न आई होगी। प्रकाश में गांठ लगाने की बात गले से न धंसेगी…

" कैसा बचकाना खयाल है। रोमांटिक भी नहीं है। केवल कुल-बुलाहट है। लेकिन देखो तो यार, अभी हम जवान हैं…

"अच्छा तो चलते-चलते एक बेवकूफी और देख लो..."

अंत में प्रश्नों की बौछार :

"अब बताओ कि यह कविताएं हैं भी या नहीं ? और अगर हैं तो क्यों, और अगर नहीं तो क्यों नहीं ? फिर ऐसी कविताओं का मूल्य क्या है हमारे इस युगीन जीवन में ? मुझे ये प्रश्न बहुत सताते हैं। जवाब दे लेता हूं, परंतु फिर भी यही प्रश्न उठते रहते हैं। आशा है कि सविस्तार उत्तर दोगे।"

मैंने जो भी उत्तर दिया हो, यह बात तब भी जानता था, अब भी जानता हूं, इन प्रश्नों का जो उत्तर उन्हें संतोष दे सके, वह उन्हें अपने भीतर मिलेगा, किसी आलोचक से नहीं। लेकिन यह सच है कि उनकी भेजी हुई कविताओं से ज्यादा मेरा मन उनके पत्र में गद्य के एक टुकड़े से अटक जाता है और मैं उसकी तारीफ करने लगता हूं तो कविताओं की तारीफ करना भूल जाता हूं या वह तारीफ फीकी पड़ जाती है।

मैं दिल्ली गया था। सैर-सपाटा हमारे भाग्य में है, वह कचहरी से बंधे हुए हैं, एकरस जीवन है, डर है कि इस तरह पुराने न पड़ जाएं। इस भाव में डूबे हुए वह लिखते हैं :

"पर किया भी जाए तो क्या ? हम तो कील हैं। कुर्सी में लगे हैं। जब तक कुर्सी है हम लगे रहेंगे। जब वह टूटेगी तब शायद फेंक दिए जाएंगे। अभी तो भाग्य पलटने की कोई सूचना नहीं है।" (11-4-58)।

कुर्सी और कील वाली बात—कितनी सारगर्भित उक्ति है। मैं सोचता हूं, बार-बार मजबूरी, बार-बार टक्कर। कहते हैं कि भाग्य पलटने की कोई सूचना नहीं है जबकि कविताएं बराबर लिखते जा रहे हैं। सबसे बड़ी साधना, सबसे बड़ी सफलता यही है कि कचहरी का जीवन उनकी कविता का गला नहीं घोंट सका, बेबसी में भी मस्ती बाकी है, "अभी तो हम जवान हैं" का स्वर मद्धिम नहीं हुआ, कविता वह सहज भाव से लिखते हैं लेकिन आत्मालोचना बड़े कठिन भाव से करते हैं। कविता की साधना उनके लिए एक निरंतर आत्मसंघर्ष भी है।

"अपनी कमजोरियों को जानकर उत्साह होता है कि उन्हें दूर करूं। लेकिन यह सब होते हुए भी बार-बार गलती कर ही बैठता हूं।

कविता आती है तो जैसे रहा नहीं जाता। फिर जो लिख लो वही कई दिन तक बहुत अच्छा लगता है। अपने मुंह मियां मिट्ठू बना रहता हूं। मगर काव्य के गुणदोष इतने अधिक हैं और इतने सूक्ष्म हैं कि सहज ही क्या, घूर-घूर कर खोजने पर भी मुझ अंधे को नहीं दिखते।"

गुणदोष उन्हें भले न दिखाई दें, कविता उन्हें खूब दिखाई देती है और वहां दिखाई देती है जहां औरों को ज़रा कमी दिखाई देगी। इस पत्र में उन्होंने कई बहुत सुंदर कविताएं भेजीं लेकिन सबसे सुंदर उनका वह गद्यकाव्य है जिसे उन्होंने बहुत सहज भाव से लिख दिया है और जिसके गुणदोषों की चिंता से वह मुक्त हैं। आपने नज़ीर अकबराबादी की वह कविता पढ़ी होगी जिसमें कोरे घड़ों में पानी भरने का वर्णन है, पानी भरते ही घड़े की मिट्टी उसे सोखती है, एक हल्की आवाज होती है, एक सोंधी सुगंध उठती है। नज़ीर अकबराबादी सूफी थे (न रहे हों तो उन्हें होना चाहिए था), होली और वसंत के बड़े प्रेमी थे। अब हमारे सूफी कवि का गद्य पढ़िए :

"मौसम ऐसा है कि धूप नहीं है। आसमान एक ही श्याम रंग से ढका है। बादलों के हाथी-घोड़े और बनते बिगड़ते चित्र नदारद हैं। वह लोचदार लचक भी नहीं है जो कटाक्ष की तरह गजब ढा देती है प्रेमियों पर। अभी-अभी कुछ बूंदें झरी हैं। आंगन के पत्थरों पर उनके गीले स्वभाव व्यक्त हो गए हैं। वह छमाछम भी नहीं है। सामने नल चल रहा है। बाल्टी भर रही है। पानी बोल रहा है। आंगन के कच्चे कोने में, पहले की कटी, रातरानी ने पत्तियां निकाल दी हैं। वह ज़रूर जिएगी और महकेगी। तुलसी थाले की तुलसी लंबी हो गई है जैसे सयानी कन्या। तार पर उतारे हुए कपड़े ओलौती के नीचे टंगे हैं। कोई काला है, कोई सफेद, कोई अचकन है, कोई पाजामा है। हां 'बनियानें' भी हैं—धुली, साफ गोरी-गोरी। झंझर पर गिलास उल्टाया है। पता नहीं कि पानी ठंडा है या नहीं। (23-7-58)।

"जुलाई खतम होने को है, धूप और गर्मी की तेज़ी में ज़रा भी कमी नहीं हुई।

"गर्मी तो तेज़ धार की तलवार की तरह लगती है और खून न

बहाकर पसीने-पसीने कर देती है। पानी भी बरसता है तो जैसे मुर्दों पर चांदी के गुलाबपाश से गुलाबजल छिड़का जा रहा है।" (29-7-66)।

मुर्दों पर गुलाबजल छिड़कनेवाली उपमा आपको पसंद आनी चाहिए।

बांदा में वसंत, ग्रीष्म, वर्षा के अलावा शरद भी आती है, शरद के बाद शिशिर और हेमंत भी। जाड़े में अपने दोस्त की एक झलक दिखाए बिना यह रेखाचित्र अधूरा रहेगा। पहली जनवरी को सबेरे-सबेरे वह चिट्ठे लिखने बैठे हैं :

"नये साल की बधाई लो। इस वक्त सबेरे का सूरज बादलों का लिहाफ ओढ़कर अपने आसमानी घर में शायद चाय पी रहा है। वहां कोई पकौड़ी बनाने वाला या मुंगौड़े बनाने वाला नहीं है, इससे वह केवल चाय पी रहा होगा। अगर बादल ज़रा भी कटा तो वह फौरन धरती की ओर मुंगौड़े वाले की दूकान तक आ जाएगा।

"अपने राम ने चाय पी है। एक मठरी खाई है। रेडियो का आलाप सुनता रहा हूं। 'लीडर' पर निगाह डाल चुका हूं। घड़ी में चाभी भर चुका हूं। 20 मिनट सुस्त थी, उमेठ कर रेडियो से मिला चुका हूं। बच्चे खेल रहे हैं। घर में औरतें चूल्हा गरमाए खुद गरम हो रही हैं।" (1-1-58)

सूरज औरों के लिए बादलों में छिपा हो, केदार उसे देख लेते हैं, उसके चाय नाश्ते की फिक्र भी कर लेते हैं। वह सूर्य के अद्‌भुत प्रेमी हैं। सूर्योदय के पहले से लेकर सूर्यास्त के बाद तक हर तरह का मद्धिम, तेज़ या रंगीन प्रकाश उनकी कविताओं में छाया हुआ है। मुक्तिबोध और केदार की चित्तवृत्तियों का अंतर यहां स्पष्ट हो जाता है। छायावादी कल्पना के ज्ञानमय प्रकाश से भी यह भिन्न है। यह पशु-पक्षी-वनस्पति और मनुष्य को जोड़ने वाला, भौतिक जगत का वास्तविक, प्रकाश है।

सबेरा हुआ और गांव के कच्चे घर कंचन के पानी में डूब गए। धूप फैली और रूप भरी नगरी फूल-कटोरों-सी मुस्करा दी। लेकिन धूप

फैली कैसे ? दरअसल फैली नहीं, वह आकाश से धरती पर उतरी, जैसे शिव के जटाजूट पर गंगा उतरी हों। (सूफी कवि शिव के बड़े भक्त थे, प्रेमाख्यानों के नायक जोगी बनकर घूमते थे, इसलिए)। सूरज डूब गया किन्तु :

चकित कर रहा है अब भी
जल में जीवित
डूब गये सूरज का
अपराजित प्रकाश।

वह और भी बहुत कुछ देखते हैं। बच्चे ने ताल में कंकड़ फेंका। केदार ने देखा, वह ताल को नहीं अनंतकाल को कंपा गया। आपने समय को किसी पेड़ पर बैठे न देखा होगा; केदार ने देखा है,

काल काग की तरह ठूंठ पर गुमसुम बैठा है।

कवि राबर्ट फ्रॉस्ट की रचनाओं में अनेक बार उस क्षण के दर्शन होते हैं जब मनुष्य समय यों देख लेता है जैसे डाल पर पक्षी बैठा हो। वही दृष्टि केदार के पास है। रूप जहां काल की सांकल हटा कर खुल गया है और गंध पीने के लिए आसमान झुक आया है, वहां केदार का मन कविता का मर्म टटोलता है। उजाला जहां रूप-गंध की गांठ खोलता है, वहां केदार छंद रचते हैं।

उनकी कविताएं देखने में बहुत आसान लगती हैं, आकार में भी प्रायः छोटी होती हैं, इसलिए उनकी सरलता भुलावे में डाल देती है। कई बार पढ़ने, ठहर कर विचार करने, कवि की मनोदशा में डूबने से उनकी गहराई का अंदाज़ा होता है। उनकी भाषा देखकर लगता है, कोई किसान कविता लिख रहा है। उनके सौंदर्यबोध का वही स्तर है जो जायसी के सौंदर्यबोध का है और इसका असर उनके अनूठे शब्द चयन पर है। उनमें सूफियों जैसी मस्ती है जिसे कचहरी का जीवन खत्म नहीं कर पाया। आनंद उनकी सहजवृत्ति है। उनकी यह धज देखकर आप यह न समझ बैठें कि उन्होंने मुसीबतें नहीं झेलीं या वह कठिनाइयों से भाग कर प्रकृति में शरण लेने वाले कवि हैं। उनकी आनंदवृत्ति दुखों की आंच में तप कर अब अमंद लौ की तरह ऊपर

उठती है। वेदना सतह के नीचे है, ऊपर नहीं तैरती।

आया था संकट, घन मार गया।
फूलों की छड़ियों से हार गया।

ऊपर फूल ही दिखाई देते हैं; उनमें जिस मन की खुशबू है, वह घन की चोट सह चुका है, सूफी कवियों ने अपने जमाने में जाति-प्रथा और धार्मिक भेदभाव से जनसाधारण को ऊपर उठाकर उनमें मनुष्य-मात्र के प्रति प्रेम जगाया। केदार में उसी मानव-प्रेम के दर्शन होते हैं, वह 'घन गरजे जन गरजे' जैसे गीतों के रचयिता सफल राजनीतिक कवि हैं, उनमें जीवन की वह उपलब्धि है जो मृत्यु की चुनौती पर हंसती है, कहते हैं: "मरो तो इस शान से कि मौत भी एक ऐसे फूले-फले पेड़ को कंधे पर रखकर चले कि जिधर से निकले रूप-रस और गंध बरस पड़े।" (17-12-58)

बांदा से महाबलिपुरम का समुद्र बहुत दूर है लेकिन बांदा में बच्चे हैं, स्कूल के आते-जाते बच्चे—

जैसे भास्वर भाव वही हों कविताओं के
बंद किताबों से बाहर छंदों से निकले।

मानव-प्रेम की यही वह मनोभूमि है जिसमें रूप-रस-गंध वाले मृत्युञ्जयी वृक्ष उगते हैं।

केदार की कविताएं आप उनके संग्रह "फूल नहीं, रंग बोलते हैं" (परिमल प्रकाशन, इलाहाबाद) में पढ़ सकते हैं, यह लेख मैंने उनकी कविताओं का विवेचन करने को नहीं लिखा। मेरा उद्देश्य उनके उस मन की झलक दिखाना है जो ज़िंदगी की पचास उलझनों में कविता की डोर अपने हाथ से छूटने नहीं देता। मैंने इसके लिए उनके पत्रों से बहुत-से उद्धरण दिए हैं जिन्हें इस लेख के अलावा आप किसी संग्रह में नहीं पढ़ सकते। इन उद्धरणों से आप यह भी देखेंगे कि सफल कवि होने के अलावा वह कलात्मक गद्य लिखने में कितने कुशल हैं।

कुछ साल से वह सरकारी वकील थे। अब साठ के हुए। वह नौकरी शायद अब खत्म हो जाएगी। शायद वह फिर इस उधेड़बुन में पड़ेंगे कि आज कचहरी जाऊं कि न जाऊं। जो भी हो, उनकी आर्थिक

स्थिति बहुत अच्छी है। धर्मयुग में प्रकाशित एकाध अन्य साहित्यकारों पर मेरे लेखों से कुछ पाठकों में भ्रम उत्पन्न हो गया था, इसलिए बात स्पष्ट कर देना मैंने उचित समझा।

उनके साठवें जन्मदिवस पर मेरी कामना है कि बांदा में सरसों जल्दी फूला करे। वसंत अप्रैल के आखीर तक रहे, पानी छमाछम नहीं झमाझम बरसे, कचहरी उन्हें एक दिन भी न जाना पड़े, खाली घर में एक रात न काटनी पड़े, बहुत-बहुत दिन तक वे कविताएं रचते रहें लेकिन छठे छमाहे थोड़ा-सा गद्य अपने दोस्त को भेज दिया करें क्योंकि हमें गद्य पसंद हो चाहे पद्य या दोनों, किसीकी निंदा या प्रशंसा से सूफियों को क्या मतलब ?

"हमने इश्क इसलिए नहीं किया कि हमें यश मिले या इनाम मिले या कोई हमारे नाम की माला जपे। इश्क का जो मज़ा है। वह हम पा रहे हैं।" (11-11-68)।

ये सब राज़ की बातें हैं और गद्य में हैं। उनका पद्य सब के लिए है, गद्य सिर्फ दोस्तों के लिए है। वह इश्क करते रहें—हम उनकी सफलता चाहते हैं—लेकिन इस रास्ते में आगे जैसा हाल हो, हमें सूचित करना न भूलें।

(धर्मयुग, जुलाई '70)

कलाकार बाबू गुलाबराय

बेशक, बाबू गुलाबराय कलाकार भी हैं। चित्रकार नहीं, शिल्पकार नहीं, कवि और गायक भी नहीं, आलोचक हैं, संपादक हैं, संकलनकर्त्ता हैं और इन सब कामों में कला का समावेश होता है; बाबू गुलाबराय ने इन सब रूपों में एक चतुर कलाकार की झलक कहीं न कहीं दिखा दी है। लेकिन यहां तो सिर्फ झलक है, और झलक से कहां सन्तोष होता है। हमें चाहिए पूरी झांकी। कलाकार की यह भरी-पूरी झांकी हमें मिलती है बाबू गुलाबराय के निबन्धों में।

निबन्ध भी कई तरह के हैं। समन्वयवादी बाबू गुलाबराय ने सभी को खुश किया है, कला के पारखियों को भी, बिरादरी वालों को भी जो कला के नाम पर डांडी मारना जानते हैं। उन्होंने व्यापार से लेकर मनोविज्ञान तक, व्यापारियों के मनोविज्ञान और मनोविज्ञान के व्यापार तक नाना विषयों पर निबन्ध रचे हैं लेकिन न मनोविज्ञान में और न व्यापार में कोई विषय इतना रोचक है जितना स्वयं बाबू गुलाबराय। इस विषय पर उन्होंने जितने निबन्ध लिखे हैं, वे ऊंचे दर्जे का सरस साहित्य हैं और ललित निबन्धों की चर्चा करते हुए कोई भी आलोचक या इतिहासकार उन्हें दरकिनार नहीं कर सकता। अपनी खैर चाहे तो उनकी चर्चा उसे करनी ही होगी।

बाबू गुलाबराय आगरे के तमाम साहित्यकारों के बाबू जी हैं। नौजवानों की तो बात छोड़िए, बुजुर्गों तक को उन्हें बाबूजी कहते आप सुन सकते हैं। वह दार्शनिक और रसिक दोनों हैं यद्यपि रसों में वह हास्यरस को ही व्यवहार में प्रधानता देते हैं। कभी-कभी सड़क पर बात करते-करते जब वह अचानक गायब हो जाते हैं और उनसे विदा लेने का आकांक्षी घूम कर देखता है कि बाबूजी अनासक्त योगी की तरह वापस चले जा रहे हैं तब यह कहना कठिन हो जाता है कि

उन्हें दर्शन से अधिक प्रेम है या हास्यरस से ।

बहुत दिनों तक महेन्द्र, जैनेन्द्र, नगेन्द्र, सत्येन्द्र नामों को एक-सा इन्द्रमय देखकर और इनमें से अनेक को "बावूजी" मात्र से बाबू गुलाबराय का संकेत करते देखकर मैं समझता रहा था कि ये सब एक ही बाबू जी की सन्तान हैं। बाद को पता लगा कि यह भाईचारा काफी बड़ा है और इसके लिए इन्द्र का अनुप्रास आवश्यक नहीं है ।

कोई कलाकार ही इतनी बड़ी जमात का बावूजी बन सकता है, उसकी देखभाल कर सकता है, उसकी साहित्यिक गतिविधि पर निगाह रख सकता है और नये लेखकों की रचनाएं देखकर उन्हें प्रोत्साहन देकर, और कुछ नहीं तो उनसे बेकार की बातें करके ही, उन्हें अपना बना सकता है और नित नए कुटुम्बियों से अपना कुनबा बढ़ा सकता है।

बाबू गुलाबराय अपने जीवन में कलाकार हैं। उनके हर काम में अदा है, कोट पहनने और टोपी लेने से लेकर मकान बनवाने और भैंस पालने तक उनके हर काम में एक बांकपन है। इसलिए जिन-जिन निबन्धों में चर्चा का विषय स्वयं बाबू गुलाबराय हैं, उनमें रस-निष्पत्ति भी खूब हुई है।

बाबू गुलाबराय बहुत मुहावरेदार भाषा लिखते हैं। कहावतों का उनके पास भारी पिटारा है जिसमें से हिन्दी-संस्कृत के अलावा फारसी के वाक्य भी निकल पड़ते हैं। कहानीकार की तरह मज़ेदार घटनाओं से अपना और दूसरों का मनोरंजन करते चलते हैं। उनके उपमान अनूठे और रूपक अनुपम होते हैं। हजामत की चर्चा करते हुए न्याय-शास्त्र का हवाला देना उनके लिए कुछ कठिन नहीं। तुलसीदास की पंक्तियां कैसे असाहित्यिक और अदार्शनिक प्रसंगों में उद्धृत की जा सकती हैं, मानो यह दिखाने के लिए ही उन्होंने बहुत से निबन्धों में उनके उद्धरण दे डाले हैं। इसमें जहां उन्होंने गोस्वामी जी के साथ मज़ाक किया है, वहां अपने को बख्शा नहीं है। दरअसल वह इतने उदार हैं कि दूसरों को बनाने के बदले खुद बनना ज्यादा पसन्द करते हैं।

लेकिन जो व्यक्ति लिख सकता है, "हमको लक्ष्मी और सरस्वती की पूजा करनी होगी," वह दूसरों को बना ज़रूर सकता है, बन नहीं सकता। बनता दिखाई दे तो समझ लीजिए कि यह भी दूसरों को बनाने के लिए है। यही तो कला है।

धोखा देना आसान काम नहीं है। कुशल अभिनेता भी रंगमंच पर कुछ क्षणों के लिए ही धोखा दे सकता है लेकिन उसकी कला की क्या तारीफ की जाए जो संसार को ही रंगमंच समझता है और गम्भीर से गम्भीर विषय की चर्चा करते हुए भी थोड़ा अभिनय करने से बाज़ नहीं आता।

प्रसिद्ध है कि बाबू गुलाबराय परम आस्तिक, अध्यात्मवादी और अहिंसावादी हैं। अपने समन्वयवाद का तो वह खुद भी काफी विज्ञापन करते रहे हैं। लेकिन यह समन्वयवाद रंगमंच के मेकअप से ज्यादा महत्त्वपूर्ण नहीं है। जो लोग मेकअप को ही बहुत बड़ी कला मानते हैं, वे उनके समन्यवाद की प्रशंसा करते नहीं अघाते। स्वयं बाबू गुलाबराय भी इनकी दाद देते हैं—तुम जैसा कला-पारखी दूसरा नहीं है। लेकिन हम पहले ही देख चुके हैं कि कला तो बाबू गुलाबराय के जीवन में है। फिर उन्हें मेकअप की क्या जरूरत ?

भाषा, शैली, मुहावरों और कहावतों की चर्चा से उनकी कला नहीं परखी जा सकती। यह तो विद्यार्थियों को बहलाने की बातें हैं। असली कला तो है, वह दिखाते हैं कुछ और, हैं कुछ और।

अगर मैं कहूं कि बाबू गुलाबराय भौतिकवादी हैं, उन्हें ईश्वर में ज़रा भी विश्वास नहीं है, उनकी सारी आस्तिकता अपने बिरादरीवालों पर रौब जमाने भर के लिए है तो आप मेरी बात का यकीन न करेंगे। मेरे प्रति बहुत उदार हुए तो आप बाबू गुलाबराय के पास पहुंचेंगे और आप चाहें तो उनसे लिखा भी ला सकते है कि उन पर नास्तिकता का आरोप बिलकुल झूठा है। लेकिन उनसे कुछ लिखाने से पहले वह जो लिख चुके हैं, उसे ज़रा ध्यान से पढ़ लीजिए।

देखिए उनका "मेरी दैनिकी का एक पृष्ठ।" इसमें न्यायशास्त्र के कर्ता अक्षपाद गौतम की चर्चा है जो आसमान देखते-देखते एक दिन

गढ़े में गिर पड़े थे । इस सिलसिले में बाबू गुलाबराय आजकल के दार्शनिकों के बारे में कहते हैं—और दार्शनिक होने के नाते वह खुद भी उनमें शामिल हैं—"आजकल के दार्शनिकों को ईश्वर में विश्वास नहीं ।"

मानना होगा कि बाबू गुलाबराय आजकल के ही दार्शनिक हैं। इसलिए उन्हें ईश्वर में विश्वास नहीं है । कैसी सफाई से नास्तिकता का प्रचार कर गए हैं । शायद आप कहें, पुरानी चाल के आदमी हैं, दार्शनिक भी पुराने ढंग के होंगे । आप ही ऐसा सोचें तो सोचें । गौतम पुरानी चाल के ही थे जिनके बारे में उन्होंने लिखा है कि "एक दिन विचार करते-करते एक गढ़े में गिर पड़े थे ।" ज़ाहिर है हमारे बाबूजी इस तरह के दार्शनिक नहीं है । गढ़े में गिरना तो दूर, उसमें वह मकान खड़ा कर चुके हैं । मानना होगा, नयी चाल के ही दार्शनिक हैं, इस-लिए नास्तिक भी ।

शायद आप कहें, यह तो वकीलों की सी जिरह है, यह सबूत कुछ जमा नहीं । अच्छा तो दूसरा सबूत लीजिए और देखिए यह जमता है कि नहीं । आपने सुना होगा कि शास्त्र में लिखा है, नास्तिको वेद-निन्दकः, वेद की निन्दा करने वाला नास्तिक कहलाता है । बाबू गुलाब-राय ने कितने कलापूर्ण ढंग से वेदों की निन्दा की है, देखते ही बनता है ।

लिखते हैं, "मेरे घर में किसी के वेद पढ़ने की आशंका नहीं ।" क्यों साहब, आपके घर वाले क्यों वेद नहीं पढ़ना चाहते ? इसकी आशंका क्यों नहीं है ? इसलिए कि आपको वेदों में विश्वास नहीं है, आप उन्हें ईश्वरकृत मानते ही नहीं । आपने लिखा है, "स्त्रियों में मन्त्र द्रष्टा हैं" धन्य हैं ! ईश्वर ने वेद नहीं रचे ! "सहज अपवान नारि"—ये वेद रचने पहुंच गईं ! इससे बड़ा प्रमाण नास्तिकता का और क्या होगा ?

इसपर भी आप मेरी व्याख्या से सहमत न हों तो "मेरी दैनिकी का एक पृष्ठ"—इस निबन्ध का अंतिम वाक्य ही पढ़ लीजिए। पढ़िए, ध्यान से पढ़िए । लिखा है, "मैं मोक्ष के लिए उत्सुक नहीं हूं ।" जिस

मोक्ष के लिए शंकराचार्य से वेदान्ती और सूर-तुलसी जैसे महात्मा जन्म भर अपने शरीर को कष्ट देते रहे, उसके लिए आप उत्सुक ही नहीं हैं। इसपर भी कोई कहे कि बाबू गुलाबराय परम आस्तिक हिन्दू हैं तो उसकी बुद्धि पर तरस खाने के सिवा कोई क्या कर सकता है।

और जरा आत्मविश्लेषण वाला निबन्ध देखिए। आप धर्म के मामले में अपने से बड़ा प्रमाण किसीको नहीं मानते। विदेशी शिक्षा से भारतीय संस्कृति की हत्या किस तरह हो रही है, इसका ज्वलन्त उदाहरण देखिए। लिखते हैं :

"मैंने धर्म के विषय में 'स्वस्य च प्रियमात्मनः' के आधार पर अपने को ही अधिक प्रमाण माना है।" अब कहिये। न गीता न भागवत, न वेद न पुराण; धर्म के लिये प्रमाण हैं खुद आप। इससे जो नतीजे निकले, वह भी उन्हींके श्रीमुख से सुन लीजिए। "मेरे इस बुद्धिवाद से मेरे पूज्य पिताजी और मेरे कई धार्मिक मित्र भी अप्रसन्न रहे।" क्यों न रहते ! वे आपकी नस-नस से वाकिफ थे। आप उन्हें समन्वयवाद की दुहाई देकर कब तक धोखे में रखते ? अब भी पहचान सकते हों तो पहचानिए। यह खुला बुद्धिवाद है, धर्म और प्राचीन संस्कृति को खुली चुनौती है। अपनी बुद्धि पर नहीं तो गुलाबराय के पूज्य पिताजी की साखी का भरोसा कीजिए। मानिए कि आपके परम श्रद्धास्पद बाबू जी घोर नास्तिक और परम अधार्मिक हैं। मानिए कि वह श्रेष्ठ कलाकार हैं जो अपने समन्वयवादी अभिनय से अब तक आपको चकमा देते रहे हैं।

आस्तिकता और अध्यात्मवाद तो दूर, बाबू गुलाबराय ऐसे कट्टर भौतिकवादी हैं जैसा बदनाम चारवाक भी न था। वह कलाकार न था, वरना बदनाम न होता। इसी भौतिक संसार में सुखी रहने की लालसा के लिए बदनाम हुआ जब कि नेकनाम बाबू जी खुले खजाने फर्मा रहे हैं, "जीवन के सुखभोग और वैभव से वैराग्य नहीं धारण किया।" इतनी ही नहीं, चारवाक का सबसे बड़ा कसूर यह है कि वह "ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्" का सिद्धान्त मानता था, कर्ज़ की मैं तो न पीता था लेकिन घी ज़रूर खाता था। बाबू जी भी मैकश नहीं हैं, भैंस

के घी से ही सन्तुष्ट हो जाते हैं लेकिन यह सब कर्ज़ के भरोसे ही। लेकिन "कर्ज़ लेकर घी खाओ"—बात को यों भोंड़े ढंग से न कहकर कितने कलापूर्ण ढंग से बाबू जी लिखते हैं, "मैं दूसरे की बात तभी मानता हूं जब उसे अपनी बना लेता हूं। उस आत्मीकरण की क्रिया में अपनी पराई का समन्वय हो जाता है।" अब समझे आप समन्वयवाद का रहस्य ? राम राम जपना, पराया माल अपना; अपना माल तो अपना है ही। अपने पराये माल का तालमेल ही असली समन्वय-वाद है।

इसीलिए व्याख्या के रूप में आगे लिखा है, "दूसरों की बात का सार ग्रहण करने को तैयार रहता हूं किन्तु अपनी बात को भी हेय नहीं समझता। भारतीय समन्वयवाद मेरे जीवन का लक्ष्य रहा है।" क्यों न रहा हो, जब दूसरों के माल को अपना बनाने की इतनी सुविधा रहती है! लेकिन तब चारवाक को भी समन्वयवादी क्यों न कहा जाए ?

इन सब बातों को आप विद्वानों की विनम्रता न समझें। बाबू जी यह काम बड़े नियमित ढंग से और एक चतुर कलाकार की तरह करते हैं। फिर भी कर्ज़ तो कर्ज़ ही है, चाहे पुस्तकों से लीजिए, चाहे तिजोरी से। वैसे, बाबू जी ने बहुत ईमानदारी से अपनी डायरी में लिख भी दिया है : "रात को सवेरे की साहित्यिक चोरी के लिए कुछ पढ़ा।"

इतने पर भी कुछ लोग बाबू जी की विद्वत्ता से आंतकित हैं। इनमें ज्यादातर वही लोग हैं खुद जिनके पल्ले विद्या नामचार को ही पड़ी है। कुशल व्यापारी के गुण बतलाते हुए बाबू जी ने ईमानदारी से लिखा है, "जहां तक पढ़ने का सम्बन्ध है, हमें याद रखना चाहिए कि अधिक पढ़ने से बहुधा लाभ नहीं होता।" फिर भी आप समझें कि बाबू जी ने बहुत पढ़ा है और उन्हें पढ़ने से बहुत लाभ हुआ है तो मैं इसे उनकी कुशल कला का एक दूसरा प्रमाण ही कह सकूंगा।

बाबू जी अपने कांग्रेस भक्त होने की भी काफी घोषणा कर चुके हैं। लेकिन असलियत जाहिर हो ही जाती है। "विज्ञापन की कला" नाम का निबन्ध देखिए। "आपको आपत्ति है कि सीमेंट की उपयोगिता

दिखाने के लिए उसके बने हुए स्वच्छ विशाल भवन दिखाए जाते हैं। उसमें लोगों की राष्ट्रीय भावना से लाभ उठाने के लिए उन इमारतों पर तिरंगा झण्डा फहराया हुआ दिखाया जाता है।" यानी राष्ट्रीयता से सीमेंट के व्यापारी लाभ न उठाएं, यही मतलब है न आपका? लेकिन इन व्यापारियों के बिना कांग्रेस ज़िन्दा कैसे रहेगी, यह भी सोचा आपने ?

चाय के व्यापारियों पर भी आप अप्रसन्न हैं क्योंकि "राष्ट्रीय भावना से चाय वालों ने काफ़ी लाभ उठाया है। वे उसे स्वदेशी पेय बतलाते हैं। चाय पैदा अवश्य भारतवर्ष में होती है किन्तु उसका अधिकांश भाग विलायती कम्पनियों को जाता है।" अजी विलायती कम्पनियों को अभी क्या-क्या नहीं जाता।

बाबू जी स्वयं कुशल कलाकार हैं, इसलिए दूसरों की कला भी खूब पहचानते हैं। स्वतन्त्र भारत के प्रथम चुनाव में "धवल धौल खद्दर-धारी नेताओं" ने किस तरह गली-गलियारों की खाक छानी, इसपर गोस्वामी जी की चौपाई का यह रूपान्तर उन्होंने पेश किया है।

"कठिन भूमि कोमल पदगामी।
चुनाव हेत बन बिचरहिं स्वामी।"

और बड़े ही कौशल से कांग्रेसी प्रचार का मज़ाक उड़ाते हुए लिखा है, "प्रोपेगैन्डा प्रभू के पूर्ण वैभव में दर्शन हुए। साइकिल से लगाकर जीप, मोटर, सैलून, लारी, मोटर, ट्रक और हवाई जहाज़ तक प्रायः सभी यान्त्रिक वाहनों का प्रयोग हुआ। केवल टैंकों की ज़रूरत नहीं पड़ी। बारह बरस बाद बैलों की जोड़ी के भी भाग जागे।" अन्धा भी इस व्यंग्य को समझ लेगा। बाबू जी के अन्ध भक्त अब भी न समझें तो इसे उनकी कला की सफलता समझिए।

बस, एक उदाहरण और देकर बाबू जी के समन्वयवाद का रहस्य-प्रकरण समाप्त करता हूं। मज़दूरों को पूंजीपतियों से अक्सर असन्तोष रहता है। उन्हें कौन संगठित करता है, कौन भड़काता है, आप जानते ही हैं। दाद दीजिए बाबू गुलाबराय को जो मजदूरों के इस हक का समर्थन करते हैं कि अपनी मांगों के लिए हड़ताल करो। कितने

कौशल से मिनिस्टरों और मज़दूरों को एक ही तराज़ू पर तोलते हुए लिखा है, "जिस प्रकार स्त्रियों और बालकों का रोना बल होता है और मिनिस्टरों का त्यागपत्र दे देने का बल होता है, उसी प्रकार मज़दूर का हड़ताल एक प्रबल अस्त्र होता है।" कहिए, हड़तालों का इससे खुला समर्थन किसी भी हिन्दी लेखक ने किया है ?

इसलिए हे पाठक, हे पाठिका, स्वीकार कीजिए कि बाबू गुलाबराय श्रेष्ठ कलाकार हैं। उनकी कला समन्वयवाद के भेस में अपना नास्तिक, भौतिकवादी और हड़ताल-समर्थक असली रूप छिपाने में समर्थ है।

...दी

...जिनके लिए सम्पादक
शि... की सरस्वती फूट
पड़ी...

...यतेन
...रोमि

...का' पर सम्मति देते हुए
ये ... आचार्य द्विवेदी के हृदय
में वि... क जगत् के आगरा नाम
से वि...

... हैं। बकौल पं० हृषी-
केश ... ठीक कर दी जाती है।
यहा... रे चौबेजी से मिलना न
भूले ... दर्शनीय वस्तुओं के लिए
आ... भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं
है ..., और फव्वारे पहुंच कर
फ... ज़ार के लिए दाईं ओर
स... । चौबेजी यहां के बाद-
...बैठे हैं, पहला फाटक छोड़
...र यह रही पं० हृषीकेश

...देखकर अपना मनोरंजन
...के लिए नल-नील ने जिन
... बचा हुआ एक यहां भी
...है डूब जाए। यहां आपको

क दूरों को एक ही तराज़ू पर तोलते हुए
ि गा और बालकों का रोना बल होता है
अ बल होता है, उसी प्रकार
म ----जिल है।" कहिए, हड़तालों का
इ म/महा किया है ?
कीजिए कि बाबू गुलाब-
र वाद के भेस में अपना
न इस कार्यालय असली रूप छिपाने
में का अवलोकन
कार्यपरिषद
दिनांक
आवेदन प्रा

संखया 10

कार्य हेतु प

प्रतिलिपि

पं० हृषीकेश चतुर्वेदी

पण्डित हृषीकेश चतुर्वेदी वह व्यक्तित्व हैं जिनके लिए सम्पादक शिरोमणि आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी की सरस्वती फूट पड़ी थी—

त्वया हृषीकेश हृदिस्थितेन
यथा नियुक्तोस्मि तथा करोमि

द्विवेदीजी ने चतुर्वेदीजी की 'विजया वाटिका' पर सम्मति देते हुए ये पंक्तियां लिखी थीं। उस समय पं० हृषीकेश आचार्य द्विवेदी के हृदय में स्थित थे, किन्तु साधारणतः वह इस भौतिक जगत् के आगरा नाम से विख्यात नगर में ही स्थित रहते हैं।

लोग आगरा शहर अनेक उद्देश्यों से आते हैं। बकौल पं० हृषीकेश यह वह शहर है जहां बड़ों-बड़ों की अक्ल ठीक कर दी जाती है। यहां आप सौभाग्य या दुर्भाग्य से आएं तो हमारे चौबेजी से मिलना न भूलें। हमारी निगाह में लोग आगरे में जितनी दर्शनीय वस्तुओं के लिए आते हैं, उन में हृषीकेशजी का व्यक्तित्व ज़रा भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। स्टेशन से रिक्शे वाले को दुअन्नी टिकाइए, और फव्वारे पहुंच कर फुलट्टी की ओर मुड़ने के बदले किनारी बाज़ार के लिए दाईं ओर चलिए। इसे अब अपनी ही रियासत समझिए। चौबेजी यहां के बादशाह हैं। दाहिने हाथ पर ये जो चप्पल वाले बैठे हैं, पहला फाटक छोड़ कर दूसरा और आगे ऊपर को जीना और यह रही पं० हृषीकेश की बैठक।

यहां आप अनेक चित्र-विचित्र पदार्थ देखकर अपना मनोरंजन और ज्ञानवर्द्धन कीजिए। भगवान राम के लिए नल-नील ने जिन तैरते हुए पत्थरों से सेतु बांधा था, उनमें से बचा हुआ एक यहां भी है। देखिए, ज़रा पानी में डाल कर; मजाल है डूब जाए। यहां आपको

ऐसे दुरंगे चित्र देखने को मिलेंगे जो बाईं ओर से एक नेता के हैं तो दाईं ओर से दूसरे के। अनेक भावमय छन्द, चित्र काव्य, गणित के चमत्कार आदि दीवालों पर लिखे और टंगे हुए मिलेंगे और इनके बीच लगभग पचास के चौबेजी भौंरे-जैसे बालों पर बांकी टोपी दिए सेंदुर की बेंदी वाले मस्तक में हंसी की रेखाओं से आपका स्वागत करते हुए विनम्रता से करबद्ध, सफल रसाल की भांति नमित दिखाई देंगे। पान, शर्बत, चाय—कैसे आपका स्वागत होता है, यह आपके भाग्य पर निर्भर है; किन्तु चौबेजी स्वयं हाथ पर तौलिया लपेट कर कैसे पान ग्रहण करते हैं, वह व्यापार देखना आप चाय-शर्बत में भी न भूलें।

चौबेजी दो युगों के प्रतिनिधि हैं। उनकी आधी रियासत द्वापर में है तो आधी कलियुग में। उनके यहां एक ओर समस्या-पूर्ति, चित्रकाव्य राधाकृष्णमय उच्चाटन-वशीकरण का वातावरण है, तो दूसरी ओर कलंगी और तुर्रे की परम्परा, मियां नज़ीर और खयालबाज़ों की अखाड़ेबाज़ी, विजया-वाटिका, छेड़-छाड़ और नवीन-लेखक संघ की फिज़ा भी है।

चौबेजी का साहित्य प्रकाशित कम, अप्रकाशित अधिक है। आगरे के साहित्य-प्रेमियों के लिए तो यह मौखिक-रूप से सदा प्रकाशित होता रहता है। कोई लेखक-संघ, कोई साहित्य-समाज, कोई कवि सम्मेलन चौबेजी के बिना अपनी कार्यवाही सम्पन्न नहीं कर सकता। इसके सिवा चौबेजी का निवास-स्थान स्वयं एक स्थायी कवि-सम्मेलन और साहित्य-समाज है। सम्भवतः इसी कारण उनका साहित्य प्रकाशित होते हुए भी अमुद्रित है। सबसे बड़ी बात यह है कि चौबेजी के श्रीमुख से उनके साहित्य को श्रवण करके जो परमानन्द प्राप्त होता है, वह छापे के निर्जीव अक्षरों में दुर्लभ है।

मैं चौबेजी की चौमुखी प्रतिभा का पुराना प्रशंसक हूं। उनपर कभी लिखा इसलिए नहीं कि जिस साहित्य पर लिखूंगा वह आपको प्राप्य न होगा। अब इसलिए लिख रहा हूं कि आगरे की तीर्थ यात्रा में आप चौबेजी के दर्शन-लाभ से अधिक वंचित न रहें। यहां उनके

साहित्य की कुछ बानगी देखिए। चौबेजी संस्कृत, ब्रज, खड़ी बोली (हिन्दी और उर्दू दोनों) में कविताएं रचते हैं। पहले देववाणी से आरम्भ कीजिए। उनका "श्रीकृष्ण ताण्डव स्तोत्रम्" छप गया है। उसी का एक छन्द है देखिए :

व्रजांगनाधिनायिका धरारविन्द-कन्दली-
रसोपलब्ध–माधुरी--विजृभणा-मधुव्रतम् ।
अघान्तकं हयान्तकं बकान्तकं वृषान्तकं
गजेन्द्र कंसकान्तकं तमम्बरान्तकं भजे।

उपर्युक्त पुस्तक के अन्त में लिखा है कि केशव की पूजा करके जो स्तोत्र पढ़ेगा, उसे कीर्ति और लक्ष्मी प्राप्त होगी। इस तरह देव-वाणी की साधना से चौबेजी ने अपने और पाठक के लोक-परलोक दोनों साधे हैं।

चौबेजी राधाकृष्ण के उपासक हैं, किन्तु सीताराम से उन्हें चिढ़ नहीं है। 'राम-कृष्ण-काव्य' में उन्होंने दोनों का समन्वय कर दिया है। समन्वयवादी बाबू गुलाबराय के शब्दों में "बाईं ओर के पाठ में राम-पक्ष है, दाईं ओर के पाठ में कृष्ण-पक्ष है।" प्रगतिशील लेखक डाक्टर रांगेय राघव ने इस काव्य की विशेषता बतलाते हुए लिखा है—"वस्तुत: यह चित्र-काव्य है, किन्तु चित्र-काव्य होते हुए भी इसे अधम काव्य नहीं कहा जा सकता, क्योंकि इसमें केवल कौतूहल की शान्ति नहीं हो जाती, वरन् बुद्धि को उनके भाषा के अधिकार से प्रभावित होकर भाषा की शक्ति पर विचार करने की प्रेरणा मिलती है।" डाक्टर रांगेय राघव की बात बिलकुल ठीक है। उनकी भारतीय इतिहास सम्बन्धी खोज पढ़कर लगता है कि उनकी बुद्धि 'रामकृष्ण-काव्य' की शैली से काफी प्रभावित हुई है।

चौबेजी ने 'श्री रामकृष्णायन' काव्य और लिखा है जिसे दाएं-बाएं पढ़ने की जरूरत नहीं पड़ती। पढ़िए साधारण रीति से, लेकिन समझिए असाधारण रीति से। जैसे—"लखि सुघर मन्थरा चाल, मोहित राय भए।" राजा दशरथ मन्थरा की सुयोजित चाल देखकर मूर्च्छित हो गए, यह तो हुई रामायण और नन्दराय जी श्री कृष्ण की सुन्दर मंथर

गति देखकर प्रेम-मग्न हुए, यह हुई कृष्णायन। इस तरह की चमत्कारी प्रतिभा इस युग में दुर्लभ है, इसलिए मैं उसे द्वापर की रियासत कहता हूं।

आगे कलियुग का हाल सुनिए, जिसे तुलसीदास ने सब युगों में श्रेष्ठ कहा है। चौबेजी क्या मंजी हुई ब्रजभाषा लिखते हैं। पं० सत्यनारायण कविरत्न के प्रशंसक क्षमा करें, 'रत्नाकर' के बाद ऐसी सुन्दर ब्रजभाषा किसीने नहीं लिखी।

पहिरे पट-नील विराजि रहीं
जमुना तट पैं वृषभानु लली।
लखि रूप अनूप अपूर्व लला
हुलसे अलि ज्यों लहि कंज कली।
यह नागरि कौन से देश बसै,
निरखी नहीं आजु-लौं ग्राम गली।
अति रूपवती रति-मूरति-सी
युवती मन भावती भोरी भली।

और इस तरह का एक सवैया नहीं, अनेक। ऐसी सरस ब्रजभाषा लिखना किसी भी युग में कमाल होता, लेकिन वर्तमान काल में उसे लिखना महान् चमत्कार ही है। चौबेजी से प्रार्थना है कि वह द्वापर की ओर चाहे ध्यान कम दें, इस कलियुग पर कृपा करें। अर्थात् रामायण-कृष्णायन-समन्वय चाहे कम करें, हम कलियुगी पाठकों के लिए दस पांच सवैए और लिख डालें।

चौबेजी खड़ी बोली के भी सिद्धहस्त कवि हैं, खास कर जब वह खयालबाज़ों की लोक-परम्परा का अनुसरण करते हैं। दरअसल खड़ी बोली का सबसे स्वाभाविक रूप जैसा यहां निखरा है, वैसा और कहीं नहीं निखरा। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की भी सबसे सरस रचना या तो कवित्त-सवैया (ब्रज) में हैं या लावनी-खयालों (खड़ी बोली) में। चौबेजी कहते हैं—

है रमानिवास रमा जग में
औ जग त्यों रमा-निवास में है।
माया से पृथक हुआ भी वह
बसता माया-आवास में है।
क्या मीत के व्यर्थ प्रयास में है
क्या समय शक्ति के ह्रास में है।
सीधा सिद्धान्त कि सभी ब्रह्म है
आता बस विश्वास में है।

दूसरी वहर में इस खयाल के अन्दर प्रेम-मार्गियों के रंग में क्या खयाल बांधा है !

ज्योतिरूपी की अंधेरी
गुफा में खोज है यों,
सर्वव्यापी के मिलन के
लिए गृहत्याग है ज्यों।
ब्रह्म साकार है, सम्मुख
है, नयन मूंदना क्यों ?
जाने घट-घट की जो, उसकी
है व्यर्थ प्रार्थना त्यों।

और इसके बाद उसी पहले के छन्द में—

सत्कर्म करो निर्भय होकर,
कुछ सार न फल की आस में है।
× × ×
यह एक तत्व बस ज्ञान, भक्ति
औ, कर्म-योग अभ्यास में है।
अब ध्यान ब्रह्म का आवश्यक
प्रत्येक श्वास उच्छ्वास में है।

कहना न होगा, इस प्रेम-मार्गी परम्परा द्वारा लोक-कवियों ने ज्ञान की बातें ही साधारण जनता तक नहीं पहुंचाईं, वरन् आंखें बन्द करके निराकार की प्रार्थना करने के बदले आंखें खोलकर साकार

मानवता को पहचानना भी सिखाया है। इस महत्त्वपूर्ण परम्परा को निबाहने की पूर्ण प्रतिभा चौबेजी में है, लेकिन उन्होंने उसका अभी पूर्ण प्रयोग नहीं किया। यदि भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने लावनीबाजों की संगत न की होती तो वह कभी आधुनिक हिन्दी के जन्मदाता न बन पाते। इस परम्परा का महत्त्व इस एक बात से ही प्रकट हो जाता है।

चौबेजी ने अपनी रचनाएं छोटी-छोटी नोट-बुकों में एकत्र कर रखी हैं। इनमें हास्यरस की नोटबुक के मटमैले पन्ने दूर से यह घोषणा करते हैं कि श्रोताओं में इसकी मांग सबसे ज्यादा होती है। लोग पचीसों बार सुन चुके हैं, लेकिन फिर मांग करेंगे—"लाला लीला होगी।" देखिए लाला जी के करतब—

लाला पढ़े 'ला-ला', 'अर्थ' से ही रखते हैं अर्थ,
जाने बिना 'अर्थ', व्यर्थ जग की जलपना
रहते करोड़ जोड़ने के जोड़-तोड़ में ही
लाते कल्पना में भी न दीनों का कलपना।
चांदी इन की है यहां आठ याम साठ घड़ी,
सोने में भी देखते हैं सोने का ही सपना।
पञ्चदश अक्षर का सीखे महामन्त्र एक
'राम-राम जपना पराया माल अपना।'

ऐसे छन्द साहित्य-गोष्ठियों और कवि-सम्मेलनों में कितने लोकप्रिय होते होंगे, आप इस की कल्पना कर सकते हैं। हास्यरस के सफल कवि पं० हृषीकेश चतुर्वेदी कहीं गवैया-कवियों का खाका खींचते हैं, कहीं बरातियों की डकैती पर व्यंग्य करते हैं, कहीं पत्रकारों और प्रेस के भूतों की लीला सुनाते हैं, तो कहीं भूत झाड़ने वाले सयानों के गण्डों और मंत्रों की चर्चा करते हुए कहते हैं—

नेतागण 'स्यान' वक्तृताएं 'झाड़' हार गए,
'मंत्र' भी स्वतन्त्रता का हो गया असार है।
जयहिन्द, बन्दे आदि 'गण्डे' असफल हुए,
थोथा हुआ पास का तिरंगा हथियार है।

आप हैं अचेत सभी लोग अति चिन्तित हैं,
'जननी' दुखी है, दुखी 'दीन' परिवार है।
शोषण का 'भूत' न उतारे से उतरता है,
'डंकिनी' विलासिता की सिर पै सवार है।

मानना होगा कि चौबेजी का हास्य शिष्ट और सोद्देश्य होता है। उन्होंने साधारणीकरण द्वारा पत्नी को हास्य रस का आलम्बन नहीं बनाया। उनकी हास्य-रस की रचनाओं में भरती के शब्दों का अभाव होता है और भाव-पक्ष में जिसे सुनाने पर आ जाते हैं, उसे बेभाव की सुनाते हैं। आचार्य द्विवेदी ने उनकी 'विजया-वाटिका' की जो प्रशंसा की थी, वह उनकी अन्य रस की कृतियों पर और भी चरितार्थ होती है।

सारांश यह है कि चौबेजी का व्यक्तित्व जैसा दर्शनीय है, वैसी ही श्रवण-सुखद उनकी कविता है। वैसे तो 'संयुक्त वर्ण विज्ञान' आदि गद्य पुस्तकें भी उन्होंने लिखी हैं, किन्तु उनका प्रिय माध्यम पद्य ही है। उन्होंने पद्य के जगत् में यथेष्ट चमत्कार प्रदर्शन भी किया है, किन्तु सबसे बड़ा चमत्कार सरसता है जो उनके ब्रजभाषा के छन्दों में और लावनी-खयालों में विद्यमान है। हिन्दी में उनकी हास्य रस की रचनाओं का विशिष्ट स्थान है। इस तरह उनका एक चरण द्वापर में है तो दूसरा कलियुग में। ऐसा व्यक्तित्व आगरे की महिमा है। इधर आएं तो उनके दर्शन जरूर करें, लेकिन इस लेख का हवाला देना न भूलें।

एक बुंदेलखंडी

तीन दंडी, एक बुंदेलखंडी—यह कहावत वृन्दावन लाल वर्मा पर जितनी लागू होती है, उतनी ही उनके मित्र सेठ भगवानदास पर। किसी दिन शाम को जब उनके आने की कोई संभावना न होगी, वह अचानक बगल में छोटा-सा बिस्तर दबाए घर के सामने प्रकट हो जाएंगे।

अब वह सत्तर के हो गए हैं पर उनकी चाल-ढाल जैसी बीस साल पहले थी, वैसी ही अब भी है। झांसी में बहुत-से भगवानदास हैं। वैसे तो झांसी के हर आदमी में कुछ न कुछ अनूठापन होता है, पर इन भगवानदासों ने तो मानो अनूठेपन का ठेका ही ले लिया है। एक भगवानदास नायक मेरे बड़े भाई के सहपाठी थे। पढ़ने-लिखने का काम बहुत ही इत्मीनान से करते थे। इसलिए एक साल वह मेरे भी सहपाठी रहे और मेरे बाद मेरे छोटे भाई के सहपाठी बने और अगर वह पढ़ना छोड़ न देते तो उससे और छोटे भाई के सहपाठी भी बनते।

एक हैं भगवानदास माहौर जो शहीद होते-होते रह गए। एक और भगवानदास गुप्त बुंदेलखंड डिग्री कालेज में हैं। भगवानदास माहौर, गुप्त और सेठ, इन तीनों भगवानदासों में गहरी दोस्ती है। इन सब में शहीद हो जाने की तमन्ना सबसे ज्यादा माहौर में है। वह बड़े दर्द से कहते हैं :

मैं दार का तालिब था, तकदीर में ज़िन्दां था
कैसे मुझे मिल जाता जो हक्के शहीदां था।

उन्हें इस बात की खुशी नहीं है कि 'ज़िन्दां' में ही सही, वह ज़िन्दा तो हैं। उन्हें अफसोस है कि वह भगतसिंह या चन्द्रशेखर आजाद की तरह शहीद न हो गए। हालांकि शहीद बहुत से लोग हुए और उनमें अनेक आज़ाद, भगतसिंह के समानधर्मा थे पर लोगों की ज़बान पर

जितना इन दो का नाम है, उतना और किसीका नहीं। मान लीजिए, भगवानदास माहौर को शहादत मिल ही जाती तो इसका क्या ठिकाना कि लोग उन्हें याद ही करते। वैसे अंग्रेज़ी की कहावत है—इट् इज् नेवर टू लेट टुमेन्ड।

भगवानदास माहौर के शहीद होने की तमन्ना, और न हो पाने की निराशा, से सेठ भगवानदास बिल्कुल सहमत नहीं है। अधिकांश मुद्दों की तरह यहां भी मेरी और उनकी राय एक है। यह बात सही है कि वह आलोचक नहीं हैं पर उनमें आलोचक की प्रतिभा प्रखर मात्रा में विद्यमान है, विशेषतः उनके एक लोचन में वह घनीभूत होकर केन्द्रित हो गई है। इस आंख की पुतली ज़रा तिरछी रहती है। बात करते हुए जब वह सामने के आदमी को एकटक देखते हैं, तब यही आंख, पलक झपके बिना, टकटकी बांधे रहती है। दूसरी आंख की पुतली इधर-उधर घूमा करती है, शायद उस आंख की पलक भी उठती-गिरती रहती है। पर उनकी यह आलोचक वाली आंख ऐसा हिप्नोटाइज़ करती है कि आपका ध्यान दूसरी आंख की तरफ जाएगा ही नहीं, यहां तक कि आप यह भी न समझ पाएंगे कि जो आंख आपको बांधे हुए है, वह दाईं है या बाईं। आप चाहें कि आप नज़र से नज़र मिलाएं और उनकी आंख नीची हो जाए, तो यह मुमकिन नहीं है। आप आंखें लड़ाइए, उनकी अकेली ही आपकी दोनों के लिए काफी है। उन्होंने जवानी के दिनों में कभी साहित्य लिखा था और उन्हें चन्डूल की चहक के नाम से प्रकाशित किया था। मैंने चन्डूल नहीं देखा, देखा होगा तो पहचाना न होगा, पर मैं कल्पना करता हूं कि उसकी आंखें वैसी ही होंगी जैसी इनकी आलोचक वाली एक आंख है।

सेठ भगवानदास की निगाह से किसीकी कमज़ोरी छिपती नहीं है। वह दूसरों को प्यार भी बहुत करते हैं पर जिसे जितना ही ज्यादा प्यार करते हैं, उतना ही उसकी कमज़ोरियों को और गहरे जाकर कुरेदते रहते हैं। वृन्दावन लाल वर्मा को वह बहुत प्यार करते थे और उनकी मृत्यु के बाद इस प्रेम में कोई कमी नहीं आई। गढ़ कुण्डार, लगन और विराटा की पद्मिनी की उस असली दुनिया में वह घूमते

रहते हैं जो थोड़ा-सा अपना रूप बदलकर उपन्यास में दिखाई देती है। वह उन पात्रों को पहचानते हैं जो अपना नाम बदलकर उपन्यास में कथाकार के इशारे पर अभिनय करते हैं। दरअसल वह स्वयं उन पात्रों में एक हैं, उस दुनिया का अभिन्न अंग हैं। उनसे मिलने और बातें करने का मतलब है, उपन्यासों से बाहर उस असली दुनिया में पहुंच जाना। वृन्दावन लाल वर्मा के उपन्यासों की इस दुनिया को भीतर से इतनी अच्छी तरह दूसरा कोई नहीं जानता, न और किसी दूसरे को उससे इतना प्यार है।

पर वृन्दावन लाल वर्मा की दुनिया में परिवर्तन हुआ, उतना ज्यादा दुनिया में नहीं हुआ जितना वर्मा जी में हुआ। शायद स्वयं उपन्यास लेखक को उस दुनिया से इतना गहरा लगाव न रह गया जितना पहले था। हृदय की हिलोर में वह किसकी ढूंढ़ खोज की बातें कर रहे थे? डायरी में क्यों लिख रहे थे, मन को और साधना ज़रूरी है? आधी रात तक नारायण बाग में वह क्यों घूमते रहते थे? सेठ भगवानदास को नन्ना से अपार ममता रही है। पर वृन्दावन लाल वर्मा ने कहा, मैं प्यूरीटन ही बना रहा। और सेठ ने कहा—तो इसमें बुरा क्या है? फिर वृन्दावन लाल वर्मा नन्ना से अलग रहने लगे। और कुछ दिन बाद उन्होंने मृगनयनी से विवाह कर लिया। मृगनयनी विवाहित थी, उसका पति भी जीवित था, पर मृगनयनी वर्मा जी के साथ रहना चाहती थी या रहने को तैयार थी। उस समय वर्मा जी झांसी डिस्ट्रिक्ट बोर्ड के चेयरमैन थे। उनके मातहत एक भ्रष्ट ओवरसीयर ने आत्म-रक्षा के लिए वर्मा जी की कमज़ोरी पहचान कर मृगनयनी से उनका सम्पर्क करा दिया। फिर वह विवाहिता की तरह वर्माजी के साथ अलग रहने लगी थी। सेठ भगवानदास को उससे कोई सहानुभूति नहीं है। नन्ना अब इस संसार में नहीं हैं पर उन्हें याद करते हुए उनकी आलोचक वाली आंख गीली हो जाती है। उन्हें लगता है कि सन् 44 के बाद वर्मा जी की कला में वह जान नहीं रही। उनकी दुनिया बदल गई है या शायद वर्मा जी बदल गए हैं, पुरानी दुनिया से उनका सम्बन्ध बदल गया है।

वह वृन्दावन लाल वर्मा के पिता को याद करते हैं, वह भी ऐसे ही थे। एक दिन उनकी पत्नी ने उन्हें खाट पर किसीके साथ देख लिया और वहीं पकड़ कर उनकी पिटाई की। दबंग स्त्री थीं और मर्द को मनमानी करने की इजाज़त उन्होंने न दे रखी थी। उनके ससुर गदर में अंग्रेज़ों से लड़े थे। वह बुंदेलखंडी स्त्री ससुर के समान ही स्वाधीनता प्रेमी थी। पति की पराधीन दासी होकर रहना उसे पसन्द न था। वृन्दावन लाल वर्मा में कुछ असर अपने बाबा का था। साहित्यिक जीवन के आरम्भ में ही उनका ऊदल नाटक सरकार ने ज़ब्त कर लिया था। कुछ असर अपनी मां का था और वह भारतीय नारी के शौर्य के अनुपम चितेरे थे। उनकी मां उन्हें बहुत प्यार करती थीं और उनपर गर्व भी करती थीं। पिता समझते थे कि बेटा मेरे रास्ते पर चल रहा है। उन्होंने इस बारे में बेटे को पत्र भी लिखा। बेटे ने वह पत्र मां को दिखाया। और मां ने बेटे के बाप से कहा—खबरदार जो मेरे बेटे को ऐसी चिट्ठी लिखी। जो जैसा होता है, उसे सब वैसे ही दिखाई देते हैं।

पर वर्मा जी में थोड़ा असर पिता का भी था।

उनके बहनोई श्यामाचरण राय भी क्रान्तिकारी विचारों के थे। सरस्वती में रूसी क्रान्ति पर 1919 में उन्होंने जो कुछ लिखा था, वह उनकी असाधारण दूरदर्शिता का प्रमाण है। रूस की जनता को वास्तविक स्वाधीनता मिली है और उसका देश बहुत जल्दी संसार के सबसे शक्तिशाली देशों में गिना जाएगा, कुछ इस तरह का मत श्यामाचरण राय ने उस लेख में प्रकट किया था। झांसी में महावीर प्रसाद द्विवेदी से उनका सम्पर्क हुआ होगा। उन्होंने बुंदेलखंड का इतिहास लिखा। वह मुंसिफ थे और उसे छपाने के लिए सरकार की अनुमति लेना आवश्यक था। यह अनुमति उन्हें नहीं मिली। गोरेलाल नाम के सज्जन की कृति के रूप में उसे नागरी प्रचारिणी सभा ने प्रकाशित किया। गोरेलाल कहीं अध्यापक थे, सेठ भगवानदास का कहना है कि वह इतिहास श्यामाचरण राय का ही लिखा हुआ है।

वर्मा जी के पास-पड़ोस में जितने लोग थे, जो नाते-रिश्तेदार थे,

उनके स्नेही और मित्र थे, उन सभी से सेठ भगवानदास अच्छी तरह परिचित हैं। कहना चाहिए कि उनकी आलोचक वाली निगाह उन सब पर पड़ी है। बदरीनाथ भट्ट वृन्दावन लाल वर्मा के उपन्यासों के बड़े प्रशंसक थे। और अचानक सेठ भगवानदास ने अपनी मर्मभेदी दृष्टि मेरी सीध में करके पूछा—आपने बदरीनाथ भट्ट पर कुछ नहीं लिखा? यह कहने में उनका आधा अन्दाज़ सवाल करने का था, और आधा अन्दाज़ यह था कि जवाब की ज़रूरत नहीं है। एक क्षण सहमे रहने के बाद मैंने कहा—द्विवेदी जी वाली पुस्तक में मैंने उनपर लिखा है, वह इस साल छप जाएगी।

उनकी निगाह कुछ नर्म हुई और उन्होंने बताया कि भट्ट जी को अन्तिम दिनों में टी० बी० की बीमारी हो गई थी। वह कुछ दिन तक वर्मा जी के साथ उनके फार्म पर रहे। उन्हें किसी पहुंचे हुए बाबा पर बड़ी श्रद्धा हो गई थी। उन्हें विश्वास था कि वह उन्हें अच्छा कर देगा। पर जब वैसा कुछ न होता दिखाई दिया, तब वह पीठ पीछे उसकी आलोचना करने लगे। साथ ही डरते भी जाते थे और कहते थे कि वह दूर बैठा हुआ मेरी बातें सुन रहा होगा। मुझे बूंद और समुद्र के रामजी बाबा याद आए।

भट्ट जी ने अन्तर्जातीय विवाह किया था। पर सेठ भगवानदास ने उनकी मुसीबतों का सम्बन्ध इस अन्तर्जातीय विवाह से कभी नहीं जोड़ा।

भगवानदास माहौर ने उनके बारे में कहा था—यहां एक भगवान दास सटोरिया हैं, उनसे मिलकर बड़ी प्रसन्नता होगी। मिलने पर मैंने उन्हें सटोरिया जी कहकर सम्बोधित किया। उनके चले जाने पर माहौर जी ने बताया—सटोरिया उनका नाम नहीं है। वह सट्टा खेलते हैं, इसलिए हम लोग मजाक में पीठ पीछे उन्हें सटोरिया कहते हैं। पर वह बड़े भले आदमी है। कोई मुंह पर भी सटोरिया कहे तो बुरा नहीं मानते। मुझे याद आया, सटोरिया जी कहने पर उनकी निगाह में ज़रा भी फर्क नहीं आया था।

सराफे में उनकी दुकान है। दुकान पर बैठे देखकर यह गुमान भी

नहीं होता कि साहित्य से या साहित्यकारों से इनका कोई सम्बन्ध होगा। वैसे देखने में वह सट्टेबाज़ मालूम भी नहीं होते। वह उन बुंदेलखंडियों में है जो शहर में सात पीढ़ी बिता देने पर भी देहाती बने रहते हैं। झांसी उन शहरों में से है जिसके निवासियों का देहातीपन गया नहीं है। देहातीपन का मतलब है बुंदेलखंडीपन। जो बुंदेलखंडीपन देहाती है, उससे अलग कोई शहरी किस्म का बुंदेलखंडीपन मुझे वहां दिखाई नहीं दिया। इस शहर में बुंदेलखंड से बाहर के वहुत से मारवाड़ी और खत्री आकर बसते गए हैं। एक-दो पीढ़ी बाद ये भी उसी रंग में रंग जाते हैं। यहां काफी बड़ी संख्या मराठी भाषियों की है। जब तक वे मराठी न बोलें, तब तक उनकी हिन्दी से यह पता लगाना बहुत मुश्किल होता है कि ये झांसी के ठेट बुंदेलखंडी नहीं हैं। वह बुंदेलखंडीपन सेठ भगवानदास में है। उनमें बुंदेलखंडी किसानों की विनोदप्रियता है, साथ ही सादे भेस में छिपी हुई किसान की पैनी बुद्धि भी है।

वह सत्तर पार कर गए हैं। तीन दंडी और एक बुंदेलखंडी। कुछ देर तक वृन्दावन लाल की दुनिया में मुझे घुमाने के बाद वह अपना छोटा-सा बिस्तर उठाते हैं और शाम के झुटपुटे में एक तरफ तेज़ी से चल देते हैं। उन्हें आगे रिक्शा मिल जाएगा, और न मिले तो भी वह बेलनगंज तक दो-तीन मील यों ही बिस्तर दबाए चले जा सकते हैं।

डा० भगवानदास माहौर

डा० भगवानदास माहौर झांसी में मेरे बड़े भाई श्री भगवानदीन शर्मा के सहपाठी थे। उनके अन्य सहपाठियों की याद मुझे बहुत अच्छी तरह है। विशेषकर श्री सदाशिवराव का बचपन का रूप मुझे प्रत्यक्ष सा दिखाई देता है। सांवला रंग, गदबदा शरीर, 8-10 वर्ष के सदाशिवराव मुझे इसलिए भी नहीं भूलते कि गुरुवर ब्रजभूषण लाल त्रिपाठी ने उनका नाम 'मटरू' रखा था। बहुत दिन बाद मुझे पता चला कि इनका असली नाम सदाशिवराव है। मेरे बड़े भाई का कहना है कि तुम भगवानदास को अच्छी तरह जानते थे। यह बात सच होगी, क्योंकि सन् 20-22 में उनके जितने मित्र थे, मैं उन सभी से परिचित था। यहां तक कि जो उनके गुरु थे, उनको भी मैं जानता था। फिर भी आश्चर्य की बात है कि भगवानदास जी के बचपन के बारे में मुझे कुछ भी याद नहीं।

सन् 47 के आसपास जब सदाशिवराव और भगवानदास माहौर दोनों को मैंने कम्युनिस्ट पार्टी में पाया तो एक तरह से माहौर जी से नया परिचय शुरू हुआ। तब से अब तक हमारा परिचय निरन्तर प्रगाढ़ होता गया है और यह मैं समझने लगा हूं कि बचपन के भगवानदास मुझे क्यों याद नहीं आए। उनके चरित्र की सबसे बड़ी विशेषता स्वयं को पीछे रखते हुए दूसरों के व्यक्तित्व को उजागर करना है। जो लोग 'यश की धरोहर' पढ़ेंगे वे मेरी इस बात से सहमत होंगे कि किसी भी क्रांतिकारी ने अपने को नगण्य ठहराते हुए दूसरों के बड़प्पन पर इस तरह नहीं लिखा जिस तरह भगवानदास माहौर ने। अवश्य ही बचपन में वे सदाशिवराव और अन्य मित्रों के पीछे इस तरह अपने को छिपाए रहे होंगे कि परिचय होने पर भी स्मृति पर उसके चिह्न नहीं रह गए।

एक बार मास्टर रुद्रनारायण के यहां भगवानदासजी से भेंट हुई।

मास्टर साहब ने आव देखा न ताव, माहौर जी से कहा 'इनसे पंजा लड़ा सकते हो ?' माहौर जी ने एक बार मेरी तरफ देखा और बोले 'हां लड़ा सकता हूं ।' हम लोग काफी देर भिड़े रहे और मास्टर साहब भगवानदासजी को बार-बार ललकारते थे लेकिन पंजा लड़ाने की कला में हम दोनों ही मास्टर साहब के शिष्य थे । इसलिए बराबर की छूटी ।

माहौर जी बहुत अच्छा गाते हैं । उन्हें संगीत शास्त्री कहना अनुचित न होगा । मैं जब-जब उनसे मिलता हूं, उनकी इस कला से अवश्य आनन्द लाभ करता हूं । हम दोनों की एक राय है कि अनेक रागों को पुराने दरबारी ढंग से गाकर उस्तादों ने इस कला को भ्रष्ट कर दिया । डा० भगवानदास मूलतः कलाकार हैं । इसलिए संस्मरण लिखने में वह अद्वितीय हैं । मैंने उनसे अनेक बार कहा कि वे अपने क्रांतिकारी जीवन को लेकर उपन्यास लिखें अथवा चन्द्रशेखर आज़ाद पर एक नाटक ही लिखें । नाटक लिखने पर वह राजी हो गए और कब कहां उसका अभिनय होगा यह भी तय हो गया । किन्तु नाटक लिखने की बारी नहीं आई । इसके कई कारण हैं । पहला यह कि वह अध्यापक बहुत ज्यादा हैं और उनके छात्र कालेज में ही नहीं घर पर भी उनका काफी समय नष्ट करते हैं । दूसरा यह कि उनका बहुत-सा समय पत्र-कारिता में चला जाता है या चला जाता था । मैंने यमू ताई (श्रीमती माहौर) से कई बार कहा कि आप हिन्दी में एम० ए० पास हैं और अखबार में लिखने का काम आप खुद किया करें । परन्तु उनका विचार है कि जब तक मर्द बोझा ढोए स्त्री का काम है कि उसे हांकती रहे । तीसरा कारण यह है कि माहौर जी सारे शहर के चौधरी हैं और ज्योतिष जानने के कारण हर अवसर कुअवसर पर लोग उन्हें घेरे रहते हैं । स्वभाव से बहुत मिलनसार हैं, इसलिए किसीको निराश नहीं करते । उनका बहुत-सा समय शोध कार्य अथवा आलोचनात्मक लेख लिखने में खर्च हुआ है । यह सब काम अपने में अच्छा है किन्तु माहौर जी जो काम सबसे अच्छा कर सकते हैं, उसका प्रमाण 'यश की धरोहर है' ।

मेरा विचार है कि सदाशिवराव और भगवानदास माहौर को कम्युनिस्ट पार्टी का सदस्य न बनाना चाहिए था । पार्टी के संगठनकर्त्ताओं

ने क्रान्तिकारियों की ख्याति से लाभ उठाकर पार्टी को गौरवान्वित करने के लिए उन्हें पार्टी का सदस्य बनाया। पार्टी का सदस्य बनकर दृढ़तापूर्वक जनता में काम करने के लिए जिस तरह का प्रशिक्षण आवश्यक है वह इन लोगों को न दिया गया था। जिस तरह का क्रांतिकारी जीवन ये बिता चुके थे उससे मार्क्सवादी क्रान्तिकारियों का जीवन बिल्कुल दूसरी तरह का है। पार्टी के संगठनकर्त्ताओं ने इन लोगों के व्यक्तित्व को पहचानते हुए इनसे कैसे काम लेना चाहिए इसका ध्यान नहीं रखा। इसलिए इनका पार्टी से अलग होना स्वाभाविक था।

सन् 20 से 30 तक का झांसी नगर उत्तर भारत का प्रमुख क्रान्तिकारी केन्द्र था। पचकुइयां के पास व्यायाम करने वाले नौजवान छात्र, किले के नीचे के पुस्तकालय में देश-विदेश के क्रान्तिकारियों से सम्बन्धित पुस्तकें, सरस्वती पाठशाला के रूप में राष्ट्रीय अध्ययन केन्द्र की स्थापना, इस वातावरण की उपज भगवानदास माहौर जैसे क्रान्तिकारी थे। इसी वातावरण के कारण चन्द्रशेखर आज़ाद और भगतसिंह जैसे क्रान्तिकारियों का अड्डा यह नगर था। किन्तु इससे भिन्न प्रकार के क्रान्तिकारियों का सम्पर्क भी झांसी से था। यहां बहुत बड़ा रेलवे जंक्शन है और रेल कर्मचारियों का संगठन करने वाले अनेक क्रान्तिकारी युवक उस समय वहां थे। इसलिए मेरठ षडयंत्र केस के प्रसंग में भी झांसी को स्मरण करना आवश्यक है। तब से अब की झांसी में बहुत अन्तर है। और झांसी ही क्या देश के सामाजिक और राजनीतिक जीवन ने बहुत बड़े परिवर्तन देखे हैं। और यह परिवर्तन हमेशा अच्छे नहीं हैं। ऐसी स्थिति में वे लोग जो अपने जीवन का श्रेष्ठ भाग देश की सेवा में अर्पित कर चुके हैं, आज की परिस्थिति में हताश नहीं हैं। देश के उज्ज्वल भविष्य में जिनकी आस्था दृढ़ है, वे धन्य हैं। मार्क्सवाद में डा० भगवानदास माहौर की आस्था अडिग है। और वर्तमान साहित्य में जो अनेक व्यक्तिवादी धाराएं प्रवाहित हैं उनसे प्रभावित होकर वे अपने रास्ते से नहीं हटे। सदाशिवराव से उनकी मैत्री पुरानी कहानियों की याद दिलाती है। मैं इन दोनों मित्रों में किसीको बड़ा छोटा नहीं कहता। सदाशिवराव लेखक नहीं हैं, किसी कालेज के प्रोफेसर भी नहीं हैं, साधारण

अध्यापक का जीवन बिताते रहे हैं। वर्तमान राजनीतिक स्थिति के कारण डा० माहौर की अपेक्षा उनके मन में क्षोभ अधिक है: किन्तु मित्र के लिए अपना जीवन और सर्वस्व निछावर कर देने वाला व्यक्ति उन जैसा मैंने दूसरा नहीं देखा। यद्यपि अब वे एक साथ एक ही घर में नहीं रहते, किन्तु मैं अपने मन में उन दोनों को हमेशा साथ देखता हूं। यह मेरे लिए संभव ही नहीं कि डा० भगवानदास को याद करूं और सदाशिवराव का चेहरा आंखों के सामने न आ जाए। पूंजीवादी समाज में जैसे मुद्रा का अवमूल्यन हुआ है, वैसे ग्रन्थों का भी। मुझे विश्वास है कि माहौर अभिनन्दन ग्रन्थ खरा सिक्का साबित होगा। इस अवसर पर मैं डा० भगवानदास माहौर का अभिनन्दन करता हूं और उनके अभिन्न मित्र सदाशिवराव को प्रणाम करता हूं।

प्रकाशचन्द्र गुप्त

मुझे अब भी वह दिन याद है जब मेरठ में होमवती जी के यहां प्रकाशचन्द्र गुप्त मुझसे प्रगतिशील लेखक संघ में शामिल होने का आग्रह कर रहे थे और मैं इसका विरोध कर रहा था। प्रगतिशील लेखकों ने तुलसीदास, प्रेमचन्द, भारतेन्दु, निराला जैसे लेखकों की ओर जो रुख अपनाया था, उससे मेरा तीव्र मतभेद था। उनके दावे लम्बे-चौड़े थे लेकिन जो काम वे कर रहे थे, वह पुराने गैर-प्रगतिशील लेखकों की रचनाओं के मुकाबले में बहुत घटिया था। सुमित्रानन्दन पन्त जैसे पुरानी पीढ़ी के जिन कुछ लेखकों की प्रगतिशीलता की वे बार-बार दाद देते थे, उनकी चेतना मुझे हिंदी के अनेक लेखकों की चेतना से पिछड़ी हुई मालूम होती थी।

प्रकाशचन्द्र गुप्त ने मुझसे इन सब बातों पर बहस नहीं की। उन्होंने दूसरे ढंग से तर्क किया : प्रगतिशील साहित्य अगर नहीं है तो होना चहिए, भारत में मज़दूर वर्ग है, मज़दूर वर्ग की क्रान्तिकारी विचारधारा है मार्क्सवाद, और बहुत-सी विचारधाराएं साहित्य को प्रभावित करती हैं, मार्क्सवाद ही साहित्य को प्रभावित क्यों न करे?

मैं मार्क्सवाद को क्रान्तिकारी दर्शन मानता था, जागरूक लेखकों की विचारधारा मार्क्सवाद से प्रभावित होगी यह मैं स्वीकार करता था। इसलिए उनका यह तर्क मैंने मान लिया कि प्रगतिशील साहित्य नहीं है तो होना चाहिए।

दूसरी बार इलाहाबाद में मुलाकात हुई और उन्होंने इस बात पर हर्ष प्रकट किया कि मैं प्रगतिशील लेखक संघ में शामिल हो गया हूं। मैंने कहा, इसका मतलब यह नहीं कि अब मैं उन लोगों की आलोचना न करूंगा जिन्हें आप प्रगतिशील कहते हैं किंतु जो मेरी समझ में प्रगतिशील नहीं हैं। उन्होंने मुस्कराते हुए कहा—आप आलोचना तो

करेंगे लेकिन अब वह पहले जैसी कटु नहीं होगी।

वह मुझसे बहस न करते थे। बहुत लम्बे अर्से तक हम दोनों ने साथ काम किया और मेरा कोई ऐसा मित्र नहीं था जिससे किसी न किसी विषय पर मेरी तेज़ बहस न हुई हो किंतु प्रकाशचन्द्र गुप्त से ऐसी तेज़ बहस की नौबत कभी नहीं आई। सन् 48-49 में मैंने जो लेख लिखे थे और प्रगतिशील लेखक संघ के भीतर जो नीति अपनाई थी, वह सब आपसी बहस के बाद, वह नीति मार्क्सवादी लेखकों के बीच विचार-विनिमय के बाद, निर्धारित की थी। इस नीति को निर्धारित करने में प्रकाशचन्द्र गुप्त का भी हाथ था। 1950 के बाद जब कम्युनिस्ट पार्टी में आन्तरिक संघर्ष छिड़ गया, तब उस समय की प्रगतिशील लेखक संघ सम्बन्धी नीति की भी ले-दे होने लगी। प्रकाशचन्द्र गुप्त ने 'नया साहित्य' में इस नीति को त्रात्स्कीवादी कह कर उसकी निन्दा की।

मैंने उनसे पूछा—आप कह सकते हैं वह नीति त्रात्स्कीवादी थी ?

उन्होंने बहस से बचते हुए कहा—नहीं, त्रात्स्कीवादी तो नहीं थी, थोड़ा संकीर्णतावादी थी।

बहुत से लेखक जो उस समय संकीर्णतावाद का ज़ोरों से विरोध कर रहे थे, वास्तव में विसर्जनवादी दृष्टिकोण से मार्क्सवाद का विरोध कर रहे थे। यही कारण है कि वह हंगामा हो जाने के बाद वे बिखर गए और पिछले बीस साल में संगठित रूप से कुछ नहीं कर पाए। प्रकाशचन्द्र गुप्त की स्थिति इन लोगों से भिन्न थी। उनकी आस्था की जड़ें बहुत गहरी थीं और जब बहुत से लोग डगमगाए, तब वह अपनी जगह दृढ़ रहे। इस कारण मेरे मन में उनके प्रति आदर का भाव बढ़ता गया।

अब मेरी बारी थी कि मैं उनसे बहस न करूं। साहित्य के बारे में, राष्ट्रीय-अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक परिस्थिति के बारे में वे बहुत-सी बातें, और देर तक, मुझसे करते रहते थे—मेरी उनकी मुलाकात प्रायः प्रतिवर्ष होती थी, कभी इलाहाबाद, कभी आगरे, कभी दिल्ली में—और मैं उनकी बातों से सहमत न होता था लेकिन वे अपनी बातें

इतने विश्वास से और इतने स्नेह से कहते थे कि उनका विरोध करने का मन न होता था।

उन्हें जैसी आस्था कम्युनिस्ट पार्टी के प्रति थी, वैसी ही सुमित्रानन्दन पन्त के प्रति। वह पन्त जी को प्यार करते थे और उस प्यार में तर्क-वितर्क की गुंजाइश न थी। उन्होंने मुझे सावधान कर दिया था कि निराला की जीवनी में पन्त जी के बारे में कुछ लिखूं तो बहुत नर्मी से लिखूं। अपनी समझ में मैंने उनके आदेश का पालन किया किन्तु उनका विचार था कि मैंने सख्ती से काम लिया है। निराला की जीवनी की आलोचना 'कथा' में उन्होंने लिखी जिसमें कई जगह उनका असन्तोष प्रकट हुआ है। आलोचना प्रकाशित होने के बाद उन्होंने पूछा—आपको लेख बुरा तो नहीं लगा ? मैंने कहा—आपने मेरे बारे में बहुत नर्मी से लिखा है, और सख्ती से लिखना चाहिए था। यह सुनकर वह प्रसन्न हुए क्योंकि उन्हें शंका थी, मैं उनके लेख का बुरा मान जाऊंगा और मेरा—या किसीका—दिल दुखाना उनका उद्देश्य न था।

विश्वविद्यालय से अवकाश प्राप्त करने के बाद उनका स्वास्थ्य काफी अच्छा दिखाई देता था। पिछले अक्तूबर में ही हम दोनों मिले थे और वह सदा की तरह हंसमुख इधर-उधर की गप-शप करते रहे थे। नवम्बर में सुना कि वह नहीं रहे। उनकी मृत्यु आकस्मिक थी हम लोगों की यह आशा पूरी न हुई कि वह अभी बहुत दिन जिएं और हिन्दी साहित्य की सेवा करें। लेखक से बढ़कर वह मित्र थे और मित्र के रूप में जो कुछ थे, उस पर लिखना बहुत कठिन है।

भुवनेश्वर प्रसाद

एकांकी नाटकों के सिलसिले में आपने शायद भुवनेश्वर प्रसाद का नाम सुना हो। 'रूपाभ' और 'हंस' के लेखकों में वे थे। ('रूपाभ' का नाम भी आपने शायद सुना हो। हिंदी के प्रसिद्ध कवि श्री सुमित्रा-नंदन पंत ने इस नाम से बहुत पहले एक मासिक पत्र निकाला था।)

भुवनेश्वर के बारे में ठीक नहीं मालूम कि वह इस दुनिया में हैं या नहीं। शमशेर बहादुर सिंह की एक कविता पढ़कर मैंने आसानी से यह नतीजा निकाला कि वह दुनिया में नहीं हैं। लेकिन जब मैंने शम-शेर से पूछा तो उन्होंने कहा—भाई, निश्चय से नहीं कहा जा सकता क्योंकि एक बार और खबर उड़ी थी कि वह नहीं रहे और फिर अचानक प्रकट हो गए।

भुवनेश्वर को मज़ाक करने की आदत थी और हो सकता है कि उनका लापता होना भी मज़ाक हो। शमशेर ने अपनी कविता में उनके लिए लिखा था—नवाब, गिरहकट, 'विट'। नवाब वह ऐसे थे जैसे लखनऊ में बेमुल्क के नवाब कहे जाते हैं। जेब खाली लेकिन आदतें रईसों की। ऐसे लोग अपनी 'विट' के सहारे रईसोंवाली ख्वाहिशें पूरी करते हैं। शमशेर ने उन्हें 'गिरहकट' भी कहा है, शायद अपनी 'विट' के बल पर दूसरों की जेब से पैसा निकालने के कारण! जब तक वह लखनऊ में थे, वह गिरहकटी के इल्ज़ाम में कभी नहीं पकड़े गए। इलाहाबाद में उनपर क्या बीती, मुझे ठीक मालूम नहीं।

भुवनेश्वर के घर में और कौन है, इसका ठीक पता कभी नहीं लगा। वह जब मिले तो बिल्कुल अकेले। किसीके यहां रहते पाए गए तो वह कोई दोस्त निकला, नाते-रिश्तेदार नहीं। उनकी जान-पहचान हिंदी, उर्दू के पचासों साहित्यकारों से, युनिवर्सिटी के सैकड़ों प्रोफेसरों-विद्या-र्थियों से थी। उनके दोस्त बहुत थे लेकिन उनका अपना कौन था,

मालूम नहीं। इस तरह के अकेलेपन में आदमी थोड़ा-सा उच्छृंखल हो जाए तो आश्चर्य नहीं। लोग कभी प्रशंसा में कभी निंदा में उन्हें अंग्रेज़ी शब्द 'वोहीमियन' के साथ याद करते थे।

भुवनेश्वर को अंग्रेज़ी का अच्छा ज्ञान था। इसी के बल पर उन्होंने आई० सी० एस० की परीक्षा में पास होने की खबर फैलाई थी। बाद में पता चला कि उन्होंने ऐसी कोई परीक्षा नहीं दी। इसका ज़िक्र आने पर भुवनेश्वर झूठ बोलने की बात साफ स्वीकार कर लेते हैं। चेहरे पर कोई शिकन न आती थी। दूसरी बातों का सिलसिला जारी हो जाता था।

भुवनेश्वर जो कुछ लिखते थे, उसपर अंग्रेज़ियत की गहरी छाप रहती थी। लगता था, किसी बढ़िया अंग्रेज़ी कृति का अनुवाद पेश कर रहे हैं। व्यंजना में ऐसी वक्रता, ऐसा अनूठापन होता था कि लोग सुनकर कहते—आदमी 'जीनियस' है। मैं मज़ाक में कहा करता था—तुम फुट नोट में मूल रचनाओं का हवाला क्यों नहीं देते ? भुवनेश्वर हंसकर किसी दूसरे विषय पर बातें करने लगते; मौलिकता का दावा कभी न करते थे।

अंग्रेज़ी के साथ भुवनेश्वर को उर्दू का भी अच्छा ज्ञान था। हिंदी ही सबसे कम आती थी। हिंदी साहित्य से परिचय नाम मात्र को था। इस परिचय के बल पर उन्होंने निराला जी के विरुद्ध एक लेख लिख डाला था जो 'माधुरी' में छपा था। इसमें निराला जी के साहित्य की कोई छान-बीन न थी; आक्षेपों के बल पर उन्हें छोटा साबित करने की कोशिश की गई थी। निराला जी को इससे काफी परेशानी हुई थी और उन्होंने उसका जवाब भी छपवाया था।

मैंने भुवनेश्वर से पूछा था—तुमने निराला जी का साहित्य पढ़ा नहीं, फिर यह सब क्यों लिखा ?

भुवनेश्वर ने जो कुछ कहा, उसका आशय यह था—माधुरी वाले उन्हें लेख के लिए पैसे देने को तैयार थे; वह लेख छपने लायक था या नहीं; यह उन्हें खुद सोचना चाहिए था।

कुछ दिन बाद माधुरी में निराला जी का एक लेख छपा—मेरे गीत

और कला। लेख लंबा था। उसका एक ही हिस्सा एक अंक में छपा; शेष अगले में छपेगा, यह सूचना प्रकाशित हुई। साथ में निराला जी का चित्र छपा, नंगे बदन, कमर से ऊपर का भाग, कुश्ती लड़ने की सी मुद्रा में।

भुवनेश्वर ने अमीनुद्दौला पब्लिक लायब्रेरी में माधुरी का वह अंक देखा। निराला जी के चित्र के नीचे उन्होंने लिख दिया—शेष अगले अंक में!

भुवनेश्वर के मज़ाक में अद्‌भुत, बीभत्स, करुण, शृंगार—सभी रसों का थोड़ा-थोड़ा पुट रहता था। निराला जी के चित्र के शेष भाग के प्रकाशन की कल्पना में उन्होंने एक से अधिक रसों की निष्पत्ति की थी।

भुवनेश्वर गाते भी थे—ठेठ लोक गीत जिनमें शृंगार के भाव इस तरह प्रकट किए जाते थे कि वे गीत न तो अखबार में छापे जा सकते हैं, न चार भले आदमियों में सुनाए जा सकते हैं। इलियट की दिमागी कसरतवाली कविताओं के साथ उन्हें इन गंदे देहाती गीतों से बेहद प्रेम था। एक शाम का दृश्य याद है। कमरे में फर्श पर दरी बिछाए हम तीन आदमी लेटे थे—नरोत्तम नागर, भुवनेश्वर और मैं। भुवनेश्वर को कहीं से दो घुंघरू मिल गए थे। इन्हें पैर में बांध कर वह लेटे-लेटे ही नाच का समा बांध रहे थे और धीमी आवाज़ में गाते जाते थे—लहंगा तेरा घूम घुमौवा चोली तेरी तंग।

यह गीत शायद उनकी किसी रचना में उद्‌धृत भी हुआ है। लेकिन यह गीत तो अपवाद रूप से सात्विक था।

यों ही गाते-बजाते, गप्प लड़ाते लखनऊ में उनके दिन बीतते थे। उनका खर्च कैसे चलता था, यह एक रहस्य था। उनके दोस्त अक्सर शिकायत करते थे कि वह पढ़ने के बहाने किताबें ले जाते हैं और उन्हें किसी सेकैंडहैंड किताबों की दूकान पर बेच आते हैं। कुछ लोग कहते थे—वह युनिवर्सिटी के छात्रों और प्रोफेसरों पर अपनी अंग्रेज़ी का रोब डालकर किसी न किसी बहाने उनसे भी पैसे वसूल कर लेते हैं। एक मित्र ने किस्सा सुनाया—भुवनेश्वर कानपुर जा रहे थे। स्टेशन पर यह

मित्र दीख पड़े। भुवनेश्वर ने कहा—दो रुपए दे दो, इस वक्त पास में कुछ नहीं है। मित्र ने कहा—मेरी भी हालत खराब है। दोनों तरफ से सौदा पटाने की बात चलती रही, आखिर गाड़ी ने सीटी दी और भुवनेश्वर ने चलती गाड़ी से पुकार कर कहा—अच्छा यार चवन्नी ही दे दो। और मित्र ने चवन्नी देकर भुवनेश्वर को विदा किया।

भारत-संपादक ने एक किस्सा सुनाया। वह बैठे लिख रहे थे। तभी भुवनेश्वर दाखिल हुए। बोले—आप काम करते रहिए; मैं इधर बैठकर लेख लिखता हूं। थोड़ी देर में तांगे वाला आया और बोला—बाबूजी पैसे मिल जाएं। भुवनेश्वर ने संपादकजी से कहा—हां ज़रा इसे पैसे तो दे दीजिए; मैं सीधा स्टेशन से आ रहा हूं। आपके लिए लेख अभी पूरा करता हूं।

इस तरह भुवनेश्वर ने अपनी ज़िन्दगी काटी। लखनऊ से वह इलाहाबाद चले गए; मैं आगरे आ गया। उनसे फिर कम मुलाकात हुई।

दूसरा महायुद्ध छिड़ने के समय इलियट ने अपनी पत्रिका "क्राइटीरियन" बंद की। भुवनेश्वर ने लायब्रेरी में उसका अंतिम अंक देखा। संपादकीय वक्तव्य पढ़ा। फिर जैसे उन्होंने निराला जी की तस्वीर के साथ मज़ाक किया था वैसे ही इलियट के संपादकीय के साथ किया। उन्होंने वक्तव्य के नीचे इलियट की पंक्तियां उद्धृत कर दीं—इस तरह दुनिया खत्म होती है, डंके की चोट के साथ नहीं; एक सिसकती आवाज़ के साथ !

और भुवनेश्वर की ज़िन्दगी ?

न डंके की चोट के साथ न सिसकती आवाज़ के साथ। पता भी नहीं, वह ज़िन्दगी खत्म हो गई या अभी चल रही है, वह खानाबदोश इसी दुनिया में है या हमेशा के लिए विदा हो गया।

स्वामी जी

जहां तक मुझे मालूम है, कृष्ण स्वामी की मृत्यु का समाचार किसी अखबार में नहीं छपा। हो सकता है, अखबार वालों को यह समाचार मालूम न हो या मालूम हो तो उनकी निगाह में उसका कोई अखबारी मूल्य न हो। मुझे स्वयं विश्वास नहीं होता कि वह अब इस दुनिया में नहीं हैं। अक्सर वह आगरे से बाहर रहते थे पर होली दिवाली के त्यौहार यहीं करते थे। ये त्यौहार कई साल से उनके बिना आते जाते रहे हैं और अब मजबूर होकर मानना पड़ता है कि अब वह किसी त्यौहार पर आगरा वापस न आएंगे।

सब लोग उन्हें स्वामी जी कहते थे। इससे कुछ लोग उन्हें संन्यासी समझते थे। खद्दर की लुंगी और कुर्ते में गेरुए कपड़ों के बिना भी वह संन्यासी जैसे लगते थे। वह तमिल भाषी थे, तमिल कवि सुब्रह्मण्यम् की तरह उन्होंने मूछें भी रखाई थीं पर तमिल कवि से भिन्न उन्होंने दाढ़ी भी रखाई थी। लोग उनकी दाढ़ी देखकर अपनी अवस्था के अनुसार भीष्म पितामह या कार्ल मार्क्स को याद करते थे।

देश की राजनीति में जो बहुत से नाम प्रसिद्ध हो चुके हैं, उन्हें धारण करने वालों के साथ वह कभी काम कर चुके थे। देवली जेल में वामपक्षी राजनीतिज्ञों के साथ रह चुके थे। फिर किसी पार्टी के साथ नहीं रहे। राजनीतिक कार्यकर्त्ता उनसे चन्दा मांगने आते, वह कभी चन्दा न देते। जो कार्यकर्त्ता बीमार हो, भूखा हो, उसके लिए इलाज, खाने पीने की व्यवस्था कर देते थे। कुछ दुबले-पतले बीमार से कार्य-कर्त्ता दूध वाले के यहां नित दूध पीते थे, महीना बीतने पर पैसे स्वामी जी देते थे।

उनका पेशा था किताबें बेचना। पहले उन्होंने समाजवादी विचार-धारा की कई किताबें छापी भी थीं। आगरे में कंस दरवाजे, लल्लूजी-

लाल के घर से डेढ़ फर्लांग के फ़ासले पर, उनका किराये का मकान था। बिजली नहीं थी, डेढ़ चारपाई भर का आंगन, नीचे दो कमरे, किताबों से भरे। ऊपर एक कमरा, रहने-सोने का, वह उन किताबों से भरा था जो बिकाऊ नहीं थीं। बगल में रसोई घर, छोटा-सा बरामदा, तीन-चार चारपाइयों भर की खुली छत। इस किले में बैठकर स्वामी जी 'बिज़नेस' करते थे। कुछ किताबें घर बैठे बेच लेते। कभी आगरे में इधर-उधर चक्कर लगाकर बेचते। साल में एकाध बार दूसरे शहरों में जाकर 'बिज़नेस' करते। चिट्ठी लिखने से लेकर किताबें पैक करने तक सारा काम खुद ही करते थे।

उन्हें किताबें पढ़ने का मर्ज़ भी था। विशेष कर रूसी उपन्यास बड़े चाव से पढ़ते थे। एक बार कहते थे, ये उपन्यास न पढ़ता तो आत्महत्या कर लेता। जो किताबें बेचते थे, उनपर खुद राय देते थे। उनके ज्यादातर गाहक बंधे हुए थे जो उनकी राय की कद्र करते थे और उनकी बताई हुई किताबें खरीदते थे। उनके यहां ज्यादा किताबें मार्क्सवादी विचारधारा की थीं, रूस-सम्बन्धी थीं। यदि कोई रूस या मार्क्सवाद की नुक्ताचीनी करे तो स्वामी जी 'बिज़नेस' करना भूलकर उसे आड़े हाथों लेते थे। चाहे हज़ार रुपये का सौदा होता हो, वह उसे अपनी तमिल लहजे वाली हिन्दी में खरी-खरी सुनाए बिना न रहते। सोवियत विरोधी, मार्क्सवाद-विरोधी पुस्तकें न बेचने की उन्होंने प्रतिज्ञा कर रखी थी। जब रूस में स्तालिन की आलोचना शुरू हुई, तब वह बहुत नाराज़ हुए। उनका विचार था कि ये कुछ त्रात्स्की के अनुयायी बच गए हैं, वही स्तालिन की आलोचना करते हैं। दैट फूल औफ ए ख्रुश्चेव ऐन्ड ईडियट औफ ए बुल्गानिन, इस तरह दो रूसी नेताओं को याद करते हुए वह दिन में कई बार कई तरह से शेष वाक्य पूरा करते थे। इन नेताओं के अपदस्थ होने के बाद उनसे भेंट नहीं हुई।

उन्होंने एक बन्दर पाल रखा था। उसका नाम रखा था मुनुआ। नाराज़ होते तो कहते—क्यों रे हरामज़ादा, मार लगाऊंगा तुजे अबी। फिर बेटा मुनुआ कहकर उसका दुलार करते। मैं उनसे पूछता था—यह आपका बेटा है तो हरामज़ादा कैसे हुआ?

इसका वह जवाब न देते थे। शायद मोहल्ले में लोगों को हरामज़ादा कहते सुनकर उन्होंने भी इस शब्द का व्यवहार किया था, पर उसका मतलब न जानते थे।

स्वामी जी के आगे पीछे कोई न था। मुहल्ले-भर के बच्चे उनसे हिले हुए थे। त्यौहार को बच्चे बिना बुलाए मिठाई खाने आते थे। कभी-कभी सुब्रह्मण्यम् भारती की कविताएं गुनगुनाते हुए वह अपनी खिड़की से दक्षिण की तरफ देखने लगते थे। एक दिन उनका मुनुआ जंजीर समेत कहीं भाग गया। मुनुआ-मुनुआ कहकर कई दिनों तक, दिन में कई बार, वह उसे पुकारते रहे पर मुनुआ लौटकर न आया। इधर-उधर ढूंढ़ने भी गए पर वह न मिला। दूसरे बन्दरों ने कहीं मार न डाला हो, यह कहकर वह चुप हो जाते थे।

और अब कई साल से न होली पर न दिवाली पर वह आगरे में दिखाई दिए। लोगों का कहना है कि स्वामी जी अब इस दुनिया में नहीं हैं। जहां तक मुझे मालूम है, उनकी मृत्यु का समाचार किसी अखबार में नहीं छपा।

एकाडिमिशियन

अलेक्सेइ पेत्रोविच बरान्निकोव

लेनिनग्राद से कुछ दूर पर कोमारोवो नामक स्थान में चीड़ वृक्षों से घिरी हुई सोवियत नागरिक भारत-प्रेमी बरान्निकोव की समाधि है, जिसके प्रस्तर-खंड पर देवनागरी अक्षरों में अंकित है :

"भलो भलाइहि पै लहै" —रामायण ।

उनके पुत्र श्री प्योत्र बरान्निकोव ने इस समाधि के लिए भारत से थोड़ी-सी मिट्टी और कुछ भारतीय फूलों के बीज भेजे थे। कोमारोवो की उस सोवियत धरती में भारत की मिट्टी भी मिली हुई है और रूसी फूलों के साथ वहां भारतीय फूल भी खिलते हैं।

अलेक्सेइ पेत्रोविच बरान्निकोव ने एक साधारण उक्रैनी परिवार में जन्म लिया था। परिवार में नौ बच्चे थे और उनकी मां बीमार रहती थी। उन्होंने बचपन में ही श्रम करना सीखा था और अपने परिश्रम के बल पर उन्होने विद्याध्ययन किया। उन्होंने श्चेरबात्स्की और ओल्देनबुर्ग जैसे विश्व-विख्यात विद्वानों की देख-रेख में संस्कृत और प्राकृत का अध्ययन किया। प्राचीन भारत-विशेषज्ञों के विपरीत उन्होंने इस देश की आधुनिक भाषाओं के अध्ययन पर ज़ोर दिया और इस प्रकार यूरोप में भारत-सम्बन्धी अध्ययन की पद्धति में युगान्तर उपस्थित कर दिया।

लगभग चालीस वर्ष की आयु के उनके फोटो देखने से लगता है कि वह बहुत स्वस्थ व्यक्ति रहे होंगे। उनका माथा चौड़ा है, आंखें बड़ी-बड़ी हैं और गर्दन किसी व्यायाम करने वाले व्यक्ति की सी है। उनके चेहरे से दृढ़ता, विचारशीलता और कार्यक्षमता टपकती है। उनके

बाद के चित्रों में, जो भारत में छपे हैं, आंखें छोटी हैं और मुख पर कुछ-कुछ थकान का भाव है। निश्चय ही दूसरे महायुद्ध की विभीषिका ने स्वर्गीय बरान्निकोव के प्रसन्न मुख पर भी अपनी छाप डाली थी।

उनके पुत्र आजकल भारत में हैं। उन्होंने अपने पिता की दिनचर्या के बारे में मुझे बतलाया है कि वह सवेरे सात बजे उठ जाते थे। वे वृक्षों से आच्छादित मार्गों में या उद्यानों में आध घंटे के लिए घूमने जाते थे। कुछ समय वे अपने कुत्ते और बिल्लियों के साथ बिताते। इनके नाम उन्होंने भारतीय ही रखे थे। कुत्ते का नाम आनन्द था। बिल्ली का कवित्वपूर्ण नाम श्यामनासिका था, कारण, उसकी नाक श्याम रंग की थी। दो बिल्लों का नाम प्रेम और सुन्दर था। कुछ अंग्रेज़ी-प्रेमी भारतवासियों के विपरीत, जो भारतीय मानवता के संसर्ग में भी अंग्रेज़ी लिखने और बोलने में गर्व का अनुभव करते हैं, बरान्निकोव अपने रूसी पशुओं के संसर्ग में इसी बहाने नित्यप्रति भारतीय शब्दों का उच्चारण करते थे।

घूमने के बाद वह नाश्ता करके काम करने बैठ जाते थे। दस बजे तक काम करने के बाद वह विश्वविद्यालय या प्राच्य विद्यालय चले जाते थे। वहां से वह तीन-चार बजे लौटते, कभी-कभी काम अधिक होने पर वह पांच-छः बजे भी लौटते। उनके साथ कभी-कभी उनके शिष्य बेस्क्रोव्नी, काल्यानोव आदि भी चले आते और वह घर पर उनकी सहायता करते। रात्रि में वह परिवार के साथ भोजन करते और लगभग नौ बजे घूमने जाते। प्योत्र और आनन्द बहुधा साथ चलते। इसके बाद वह रात में बहुत देर तक काम करते रहते थे।

मैंने उनके पुत्र से पूछा, "वे कितने घंटे सोते थे?"

प्योत्र ने उत्तर दिया, "यह मैं नहीं कह सकता हूं।"

इतवार को वह सैर के लिए जाते। तीन पुलों को पार करके अपने प्रिय मार्ग पर घूमने जाते, लेनिन उद्यान पहुंचते। जंगल में आरी या कुल्हाड़ी से लकड़ी काटते। कभी-कभी पिता-पुत्र मिलकर आरी चलाते। लकड़ियां स्वयं लादकर घर आते। उन्हें तैरने से बहुत

प्रेम था । दिन में वह दो-तीन बार तैरते थे । इस कारण किसी झील, नदी या समुद्र के निकट रहना उन्हें पसन्द था । बरसात के दिनों में गुच्छी के फल (मशरूम या कुकुरमुत्ता बीनने जाते थे । इसी कार्य के सिलसिले में एक बार प्योत्र को सांप ने काट लिया था । सौभाग्य से सर्पदंश घातक न था । वे 14-15 वर्ष की आयु के पुत्र को कन्धे पर लाद कर दो मील पर एक विश्राम गृह ले गए । प्योत्र का पैर सूज गया था, चिकित्सा से वह ठीक हो गए ।

ख्याति प्राप्त करने के बाद भी उनके जीवन और स्वभाव में पहले जैसी सादगी बनी रही । वह लेनिनग्राद से एक बड़े थैले में खाने का सामान भर कर छुट्टी का दिन बिताने उस गांव पहुंचते जहां उनका परिवार होता । स्टेशन से कभी दो मील, कभी दस मील दूर किसी गांव में अपने परिवार तक भारी थैला पीठ पर लादे हुए सहृदय पति और पिता बरान्निकोव पैदल चलकर पहुंचते थे । भारतीय पितामहों की तरह कभी-कभी वह अपनी छोटी-सी नातिन को घुमाने ले जाते, रास्ते में कहीं कीचड़ होता तो वे उसे उठा कर कन्धे पर बिठा लेते ।

उनके जीवन के बारे में ये बातें सुनकर मुझे लगा कि वह रामचरितमानस का अनुवाद करने के सर्वथा योग्य थे । उनके जीवन में वह निष्कपट मानवता चरितार्थ हुई थी जिसका श्रेष्ठ निदर्शन तुलसीदास का जीवन और काव्य था । जब कभी मैं रामचरितमानस पढ़ता हूं तो यह सोचकर मन प्रसन्न होता है कि सुदूर हिमाच्छादित लेनिनग्राद में एक सोवियत विद्वान् का हृदय मानस की तरंगों से आन्दोलित होता था । जिस समय नाज़ी आतताई लेनिनग्राद पर बम-वर्षा करके उसका ध्वंस करने में लगे थे, उस समय सोवियत सरकार ने बरान्निकोव को कजाकिस्तान के सुरक्षित स्थान बोरोवोए भेज दिया था, और उनके लिए मानस का अनुवाद करने की सुविधाएं प्रस्तुत कर दी थीं । युद्ध-काल में, जब सोवियत-संघ के जीवन-मरण का प्रश्न उपस्थित था, एक भारत-सम्बन्धी अनुसन्धानकर्त्ता विद्वान् के लिए इस तरह की सुविधाएं प्रस्तुत करना सोवियत नेताओं की हार्दिक

भारत-मैत्री का अक्षय प्रमाण था।

उनके देहावसान के बाद सोवियत संघ की विज्ञान-अकादमी पांच खंडों में से उनकी समस्त ग्रंथावली प्रकाशित कर रही है। उनके अप्रकाशित ग्रंथों में आर्य भाषाओं का तुलनात्मक व्याकरण, प्राचीन भारतीय साहित्य का इतिहास और भारतीय काव्यशास्त्र मुख्य हैं। उनके अनुवादित ग्रंथों में आर्यशूर की जातकमाला भी अप्रकाशित है।

बरान्निकोव को भारत आने का अवसर नहीं मिला। अपने देश में रहकर ही उन्होंने यहां की भाषाओं, विशेषकर हिन्दी का अध्ययन किया। सोवियत संघ में बहुत से जिप्सी (बंजारे) रहते हैं, जिनकी भाषा मूलतः हिन्दी पर आधारित है। उनकी भाषा अथवा विभिन्न बोलियों के मूलशब्दभंडार, व्याकरण और ध्वनि आदि की विशेषताओं पर बरान्निकोव ने दीर्घकाल तक कार्य किया था। इसके लिए वे बंजारों के बीच रहे भी थे। बंजारे उनसे बड़ी आत्मीयता से पेश आते थे। वे यह समझते थे कि वह भी उन्हींमें से हैं जो पढ़ लिख कर बड़ो मानुष' बन गए हैं। जिप्सी भाषाओं के सम्बन्ध में बरान्निकोव का कार्य बहुत महत्त्वपूर्ण है। इससे भाषाओं के विकास की कुछ विशेष प्रक्रियाओं का ज्ञान होता है। दूसरी भाषाओं से घनिष्ठ संपर्क होने पर मूल भाषा के कौन से तत्व नष्ट हो जाते हैं, कौन से सुरक्षित रहते हैं, अन्य भाषाओं के तत्त्वों को मूल भाषा किस प्रकार ग्रहण करती है, यह सब जिप्सीभाषाओं में स्लाव भाषाओं के तत्त्व देखकर हम समझ सकते हैं। इसके अतिरिक्त आधुनिक भारतीय भाषाओं के विकास की अनेक समस्याओं के समाधान के लिए बरान्निकोव द्वारा प्रस्तुत सामग्री से महत्त्वपूर्ण संकेत मिलते हैं।

बरान्निकोव ने सोवियत विद्यार्थियों के लिए अनेक पाठ्य पुस्तकें तैयार कीं। उन्होंने हिन्दी-रूसी तथा उर्दू-रूसी शब्दकोषों का सम्पादन किया। उन्हें हम समाजवादी देशों में आधुनिक भारतीय भाषाओं और उनके साहित्य के अध्ययन का प्रमुख सूत्रधार कह सकते हैं। उन्होंने हिन्दी-उर्दू साहित्य पर अनेक निबन्ध प्रस्तुत किए। गोर्की और भारतीय

साहित्य, रूसी साहित्य पर भारतीयों का काम, पुश्किन पर भारतीय साहित्यालोचन, हिन्दी गद्य की समस्या आदि महत्त्वपूर्ण निबन्ध लिखे। उन्होंने भारत से सम्बन्धित मिनायेव की डायरी, महाभारत के पर्व आदि का संपादन किया। भाषा और साहित्य पर भी उन्होंने काम किया। इन सभी का उद्देश्य सोवियत जनता को भारतीय भाषाओं, काव्य-शास्त्र, दर्शन, साहित्य और जन-जीवन की विशेषताओं से परिचित कराना और इस प्रकार दोनों देशों की मैत्री दृढ़ करना था। इसी उद्देश्य से उन्होंने 'प्रेमसागर' का अनुवाद किया था और उसकी 91 पृष्ठों की लम्बी भूमिका में समूचे हिन्दी साहित्य के विकास का विहंगावलोकन किया था। वह एक साधारण अनुवादक न होकर वैज्ञानिक अनुसन्धानकर्त्ता थे, जो छोटी से छोटी बातों पर भी ध्यान देकर उनकी व्याख्या करते थे। आगे चल कर उन्होंने जैसे रामचरितमानस में सोवियत पाठकों के लिए अपरिचित भावों, विचारों वाले शब्द की व्याख्या करते हुए पाद-टिप्पणियां लिखी थीं, वैसे ही 'प्रेम सागर' में भी उन्होंने अनेक शब्दों की व्याख्या की और मूल पाठ में आने वाले नामों से संलग्न कथाएं भी दीं (जैसे कालनेमि और प्रह्लाद से सम्बन्धित कथाएं)।

प्रेमसागर का अनुवाद 1937 में प्रकाशित हुआ था, रामचरितमानस का अनुवाद 1948 में। सोवियत संघ में समाजवादी निर्माण के समय द्वितीय महायुद्ध के समय और युद्ध के बाद पुनर्निर्माण के समय, सदा ही सोवियत जनता और सोवियत विज्ञान अकादमी भारतीय साहित्य और संस्कृति से दिलचस्पी दिखाती रही है। प्रेमसागर और रामचरितमानस मार्क्सवाद-लेनिनवाद के ग्रन्थ न थे, विचारधारा में भिन्न होते हुए भी सोवियत विद्वानों ने उदारता से उनका अनुवाद करके उन्हें अपनी जनता के सामने रखा।

बरान्निकोव को इस बात का श्रेय है कि जिस समय भारतीय-कथा-साहित्य के नाम पर यूरोप के लोग मुल्कराज आनन्द का नाम ही जानते थे, उन्होंने प्रेमचन्द का अनुवाद किया और मुक्त कंठ से उनका महत्त्व स्वीकार किया। 1926 में उन्होंने उक्रैनी भाषा में प्रेमचन्द की 'सौत' कहानी का अनुवाद किया था। सोवियत संघ की विज्ञान

अकादमी के मुख पत्र (इज़वेस्तिया, खंड 12, अंक 1) में बेस्क्रोव्नी और काल्यानोव ने एकाडिमिशियन बरान्निकोव पर अपने लेख में इस अनुवाद को यूरोप की भाषाओं में प्रेमचन्द की रचनाओं का प्रथम अनुवाद बतलाया हैं। 1926 में बहुत से हिन्दी के विद्वान् भी प्रेमचन्द के महत्त्व से अपरिचित थे। विदेश में उनकी रचनाओं का अनुवाद प्रखर दूरदर्शिता और सच्ची साहित्यिक परख के कारण ही हो सकता था। उन्होंई 'सप्त सरोज' की कहानियों का अनुवाद प्रकाशित कराया और उसकी भूमिका में लिखा कि "प्रेमचन्द की रचनाओं में वास्तविक भारत के दर्शन होते हैं।"

बरान्निकोव ने भारतीय साहित्य का अपना मूल्यांकन प्रस्तुत करने के साथ-साथ सोवियत पाठकों को यहां की प्रचलित धारणाओं से भी परिचित कराया। उदाहरण के लिए उन्होंने 'प्रेमसागर' की भूमिका में सूरदास के बारे में लिखा था, "कलात्मक रूप, सुन्दर भाषा और काव्य की दृष्टि से भारतीय परम्परा के अनुसार वह भारत के सर्वश्रेष्ठ गायक हैं।"

बरान्निकोव कम्युनिस्ट पार्टी के सदस्य नहीं थे, किन्तु उनकी विचार पद्धति मार्क्सवादी थी। मध्यकालीन हिन्दी साहित्य का मूल्यांकन करते हुए उन्होंने बहुत अच्छी तरह दिखलाया कि मार्क्सवादी दृष्टिकोण से प्राचीन साहित्य की आलोचना किस प्रकार करनी चाहिए। कबीर के लिए उन्होंने उपर्युक्त भूमिका में लिखा कि उनके काव्य का रूप धार्मिक है किन्तु उनकी विषयवस्तु मूलतः सामाजिक है। भारत और यूरोप के मार्क्सवादी विचारकों में वह पहले विद्धान् हैं जिन्होंने भारतीय भक्ति आन्दोलन का प्रगतिशील सामाजिक महत्त्व स्वीकार किया। उनका यह सही वैज्ञानिक दृष्टिकोण प्रेमसागर की भूमिका में ही स्पष्ट है। इसमें उन्होंने तुलसीदास के उदार दृष्टिकोण का उल्लेख किया है।

रामचरितमानस के अनुवाद में उन्होंने भगीरथ परिश्रम किया। उनका अनुवाद पद्यबद्ध है, दोहों, चौपाइयों और छन्दों का अनुवाद उन्हीं से मिलते-जुलते छन्दों में किया गया है। आरम्भ में भारतीय

काव्यशास्त्र, तुलसीदास के जीवन-दर्शन आदि से सम्बन्धित 106 पृष्ठों की भूमिका है। पाठक को भारतीय वातावरण से परिचित करने के लिए उन्होंने कथा से सम्बन्धित अनेक चित्र दिए हैं। प्रत्येक काण्ड के आरम्भ में उसका नाम देवनागरी, अक्षरों में मुद्रित कराया है, और सूर्य, कमल, शंख, मयूर, हरिण, रथ, मन्दिर आदि के चित्र भी दे दिए हैं।

मानस की भूमिका में उन्होंने लिखा है, "तुलसीदास की रामायण मध्यकालीन भारतीय साहित्य की सर्वोत्कृष्ट रचना है। उसमें भारतीय काव्यकला के सभी उपकरणों का चरम विकास ही नहीं मिलता वरन् विदेशी विजेताओं द्वारा दलित जनता के हृदय में उत्साह भरने और उसकी एकता स्थापित करने के महान् उद्देश्य के कारण उसमें दार्शनिक, धार्मिक और नैतिक विचारों की वह समृद्धि है जिसमें पहले के भारतीय दर्शन, धर्म-व्यवस्था, और नैतिकता का सारत्व मिलता है। इस कारण सोलहवीं सदी में इस ग्रंथ के निर्माण के बाद ही उसे उत्तर भारत की कोटि-कोटि जनता का स्नेह और व्यापक लोकप्रियता प्राप्त हुई। सुन्दर कलात्मक रूप में व्यंजित उसकी नैतिकता भारत के अशिक्षित और निरक्षर जनों के भी कंठों में गूंज रही है।"

अलेक्सेइ पेत्रोविच बरान्निकोव वैज्ञानिक थे, जिन्होंने कवि-हृदय पाया था। उन्हें भारत से अगाध प्रेम था। समाजवादी क्रन्ति से लेकर भारत के स्वाधीन होने और दोनों देशों में नए पैमाने पर मैत्री-सम्बन्ध स्थापित होने तक उन्होंने भारतीय भाषाओं और साहित्य क्षेत्र में अनवरत परिश्रम किया।

भारतीय भाषाओं में भी हिन्दी से उनका विशेष सम्बन्ध था। उन्होंने 1936 में ही प्रेमसागर की भूमिका में इस भाषा के बारे में लिखा था, "हिन्दी भारत की सबसे महत्त्वपूर्ण नव-भारतीय भाषा है जो पिछली शताब्दी से ऐतिहासिक विकासक्रम में उस देश की 35 करोड़ से अधिक जनता की राष्ट्रभाषा (लिंगुआफ्रांका) बन गई है।" बरान्निकोव ने सोवियत संघ में भारत-सम्बन्धी अध्ययन का प्रशस्त मार्ग निर्मित किया है। समाजवाद जातियों और

वर्गों का परस्पर संघर्ष और शोषण समाप्त करके नई, स्वाधीन मानवता को जन्म देता है। उनका कार्य इस नई मानवता का प्रतीक है। उनके योग्य शिष्य काल्यानोव बेस्क्रोव्नी आदि और उनके योग्य पुत्र प्योत्र अलेक्सेयेविच उनकी परम्परा का अनुसरण करते हुए नई परिस्थितियों में आगे बढ़ रहे हैं। आवश्यकता इस बात की है कि सोवियत संघ की भाषाओं और साहित्य के अध्ययन के लिए अब भारत में भी संगठित प्रयत्न किया जाए।

डा० कमलेश

आगरा में कंस दरवाज़ा एक महत्त्वपूर्ण मुहल्ला है। यहां पर बहुत-से संगतराश रहते हैं जो मुलायम पत्थरों से खूबसूरत ताजमहल बनाते हैं, जिन्हें बेचकर चतुर सौदागर हज़ारों रुपया कमाते हैं। लेकिन ये संगतराश छोटी-छोटी कोठरियों में काम करते हुए गरीबी में ही दिन काटते रह जाते हैं। इसी मुहल्ले में तमिल-भाषी कृष्णस्वामी ने 'सोशलिस्ट पब्लिशिंग हाउस' नाम की दूकान खोली थी। सफेद दाढ़ी वाले खद्दरधारी कृष्णस्वामी मार्क्सवादी किताबें बेचने वालों के पितामह थे। कुछ किताबें अपनी ओर से भी उन्होंने प्रकाशित की थीं। आगरा आने पर स्वामी जी से परिचय हुआ और मैं अक्सर उनके यहां जाया करता था। पड़ोस में गली के अन्दर एक बहुत तंग छोटा-सा मकान था, जिसमें 'कमलेश' अपनी मां के साथ रहते थे। कमलेश के बारे में बहुत-सी बातें सुनी थीं, जिनमें दो मुख्य हैं : एक यह कि वह शुरू में अखबार बेचते थे और इस तरह बड़ी कठिनाइयों में इन्होंने अपनी पढ़ाई पूरी की। दूसरी यह कि पालने-पोसने-पढ़ाने में इनकी मां ने बड़ा परिश्रम किया था। दूसरों का नाज कूट-पीसकर उस वृद्धा विधवा ने किसी तरह अपनी जीविका चलाई और बच्चे को पाल-पोसकर बड़ा किया।

'कमलेश' से जब-जब मुलाकात होती थी, वह अपनी माता के गुण गाते नहीं अघाते थे। कविता वह लड़कपन से ही करते थे। सन् 43-44 के करीब उन्होंने एक लम्बी कविता लिखी थी 'मैं सुखी हूं।' उन दिनों 'हंस' के 'कविता' भाग का सम्पादन मैं किया करता था। वह कविता मुझे बहुत पसन्द आई। एक नौजवान गरीब लेखक प्रकाशकों को कैसे चुनौती देता है, मातृ-भक्ति में डूबकर निर्धन होते हुए भी कैसे वह अपने को सुखी मानता है, इस तरह के क्रान्तिकारी भाव

उस कविता में प्रकट किए गए थे। उसमें कई जगह उनकी मां का भी उल्लेख था।

'कमलेश' नागरी प्रचारिणी सभा में 'साहित्य-रत्न' के विद्यार्थियों को पढ़ाते थे, आगरा के अनेक साहित्यकार वहां उनके शिष्य थे। क्रमशः उन्नति करते हुए वह आगरा कालिज में अध्यापक हो गए। उन्होंने 'भेंट-वार्ता' शैली का अनुसरण करते हुए एक पुस्तक भी लिखी, 'मैं इनसे मिला।' इसमें सबसे अच्छा लेख निराला जी पर है। उसके अच्छा होने का कारण यह है कि न तो 'कमलेश' जी पहले से निश्चित किए हुए प्रश्न उनसे कर सकते थे, न उनका उत्तर पा सकते थे। इसलिए निराला जी से मिलने पर 'कमलेश' के मन पर जो छाप पड़ी उसका बहुत सजीव वर्णन उन्होंने उस लेख में किया है। मेरी समझ में यह उनकी सबसे अच्छी गद्य-रचना है, जैसे पद्य में उनकी सबसे अच्छी रचना 'मैं सुखी हूं' है।

फिर 'कमलेश' ने विवाह किया। एक विदुषी महिला घर आईं। कंस दरवाजे की गली वाला घर 'कमलेश' ने छोड़ दिया और गोकुलपुरे में मंसा देवी की गली में बड़ा मकान लिया। उनसे अब पहले की अपेक्षा मुलाकात कम होती थी।

'कमलेश' बड़े परिश्रमी लेखक थे। गुजराती भाषा से परिचय प्राप्त करके उन्होंने अनेक पुस्तकों के अनुवाद किए थे और कई आलोचना-पुस्तकें हिन्दी में लिखी थीं। उन्होंने वृन्दावन लाल वर्मा पर पुस्तक दिल्ली के एक होटल में रहते हुए वहीं के एक प्रकाशक के लिए 15 दिन में पूरी की थी। फिर आगरा कालिज छोड़कर कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय में 'प्रवाचक' नियुक्त हुए और अन्तिम दिनों में वे प्रोफेसर हो गए थे। सूर्यनगर में उन्होंने काफी बड़ा मकान बनवा लिया था और अब तो उनके पास गाड़ी भी थी। पत्नी आगरा में रहती थी और वे कुरुक्षेत्र में। आखिरी बार उनसे टेलीफोन पर ही बातचीत हुई थी।

मुझे इस बात का आश्चर्य है कि 'कमलेश'-जैसा व्यक्ति, जो अपने स्वास्थ्य के प्रति इतना सजग था, अचानक अकाल मृत्यु का ग्रास

कैसे बन गया। उन्हें अपने स्वास्थ्य पर उचित ही गर्व था। किसी तरह का दुर्व्यसन उन्हें छू तक न गया था। यह सही है कि वह काम बहुत करते थे, और जैसा कि लोग कहते हैं उन्होंने अच्छा पैसा पैदा किया, पर उनकी मृत्यु अप्रत्याशित थी। मैं अपनी कल्पना में उन्हें कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय के प्रोफेसर के रूप में नहीं देख पाया। मेरे सामने कंस दरवाज़े की संकरी गली का वही छोटा मकान है, जिसमें कभी राहुल सांकृत्यायन-जैसे विद्वान् 'कमलेश' से मिलने आए थे और उस मकान में रहने वाले 'कमलेश' में बहुत बड़ी जीवट थी, दुनिया को ललकारने और समाज-व्यवस्था से लड़ने की हिम्मत थी।

आगरा में जितने भी कवि और लेखक हैं, सभी 'कमलेश' के शिष्य या मित्र हैं। उनके गुरुजनों में से भी कुछ अभी जीवित हैं और कुछ संसार से विदा हो गए। आगरा से जैसा गहरा सम्बन्ध रांगेय राघव का था, कुछ-कुछ वैसा ही 'कमलेश' का भी था। उनके मित्र और शिष्य निरन्तर उन्हें याद करते हैं। यहां की साहित्यिक गोष्ठियों में 'कमलेश' का अभाव उन्हें बहुत खटकता है। लोगों के मन में उनकी याद इस तरह ताज़ा है कि जब बात करते हैं तो लगता है कि 'कमलेश' कहीं आस-पास हैं और अभी आते ही होंगे। साहित्य, आलोचना, प्रोफेसरी, ये सारी बातें चाहे लोग भूल जाएं, मन में उनकी याद इसी तरह ताज़ा बनी रहे, इसीमें 'कमलेश' के व्यक्तित्व की और हमारी मैत्री की सार्थकता है।

हिन्दी में दुष्टों की कमी नहीं है

यह कहानी पं० बनारसीदास चतुर्वेदी के बारे में है। बात सन् सैंतीस की है जब उन्होंने शहीदों का श्राद्ध-कर्म अपने हाथ में न लिया था। हम उन्हें मुख्यत: 'विशाल भारत' के सम्पादक के रूप में जानते थे। मैंने उस समय तक दस-पांच लेख हिन्दी में लिखे थे, लेकिन अपने को किसी भी महारथी से कम न समझता था। एम० ए० पास करने के बाद थीसिस लिखने के चक्कर में तीन साल बीत चुके थे। अंग्रेज़ी का रिसर्च स्कॉलर हिन्दी में लेख लिखता है, यह कहकर कुतूहल और आश्चर्य से देखते हुए लोग मेरे मन के महारथी वाले भाव को और भी बढ़ावा देते थे। रिसर्च के सिलसिले में मुझे कलकत्ते जाना था। निराला-जी ने कहा, "वहां के प्रसिद्ध साहित्यकारों से मिलना।"

उन्होंने कुछ नाम गिनाए। जब पं० बनारसीदास चतुर्वेदी का नाम लिया, तो मेरे आश्चर्य की सीमा न रही।

निरालाजी उन दिनों उठते-बैठते दिन में दस-पांच बार चतुर्वेदी जी का नाम स्मरण अवश्य करते थे। कई साल पहले जूतों के सम्पादन के प्रसंग में चतुरी के साथ वे चतुर्वेदीजी को नामांकित कर चुके थे। अर्थात 'चतुरी चमार' नाम के रेखाचित्र में वे दोनों महाजनों के जूता-सम्पादन तथा विशाल भारत-सम्पादन की प्रशंसा कर चुके थे। चतुर्वेदीजी 'साहित्यिक सन्निपात' नाम का आन्दोलन चला कर निरालाजी के विरुद्ध विकट संयुक्त मोर्चा बना चुके थे। एक दिन अट्ठावन नम्बर, नारियल वाली गली के मकान की सीढ़ियों से नीचे उतरते हुए निरालाजी ने एक पोस्ट कार्ड दिखाया, जिसे वे डाकखाने में डालने जा रहे थे। कार्ड में कुछ ऐसी इबारत थी—आप जैसे प्रमाणित पशु को यह समझाना अनावश्यक है, इत्यादि। प्रमाणित पशु—ये दो शब्द मुझे बहुत अच्छी तरह याद हैं। पशुवाला बिम्ब महाकवि को विशेष प्रिय था। छायावाद

को चतुष्पद कहकर उसका एक पद स्वयं बनते हुए पुच्छ स्थाने उन्होंने चतुर्वेदीजी को स्थापित किया था। अर्थात् छायावाद रूपी जानवर के चार पैर हैं—पन्त, प्रसाद, निराला, महादेवजी और पूंछ है पं० बनारसीदास चतुर्वेदी—यह सब उन्होंने अपने लेख में प्रकाशित किया था। कार्ड में 'प्रमाणित पशु' शब्द देखकर मैंने पूछा, "ऐसा लिखना अनुचित नहीं है?" निरालाजी ने उत्तर दिया, "अनुचित क्या है? पश्यतीति पशुः।" अर्थात जो भी देखता है, वह पशु है। यह व्याख्या करके वे डाकखाने की तरफ चले गए, लेकिन मुझे विश्वास है कि उन्होंने अन्त में कार्ड न भेजने का ही फैसला किया था। मेरे टोक देने से उनके मन में यह विचार अवश्य पैदा हुआ होगा कि चतुर्वेदीजी मेरी तरह पशु शब्द का प्रचलित अर्थ ही ग्रहण करेंगे। मेरे उपर्युक्त विश्वास का एक कारण और भी है। कुछ दिन पहले चतुर्वेदीजी से भेंट होने पर मैंने पूछा, "क्या कभी निरालाजी ने आपको पशु लिखा था?" उन्होंने कहा, "नहीं।"

चतुर्वेदीजी के नाम से निरालाजी के हृदय में हास्य, वीर, बीभत्स आदि अनेक रस जाग्रत होते थे। रसों के ऐसे प्रिय आलम्बन के नाम उन्होंने एक पत्र भी लिख दिया और उनसे ज़रूर मिलने की ताकीद कर दी।

चतुर्वेदीजी से मिलना मैंने अनावश्यक समझा। निरालाजी से कहा, "साहित्यकारों के दर्शन मैं अवश्य करूंगा, किन्तु चतुर्वेदीजी...!"

निरालाजी ने कहा, "नहीं, ऐसा सोचना ठीक नहीं है। चतुर्वेदीजी ने हिन्दी की बड़ी सेवा की है। मतभेद होने से क्या लोग एक-दूसरे से मिलते नहीं हैं?"

निरालाजी ने जो कुछ कहा, मेरे पास उसका कोई उत्तर नहीं था। मैं जानता था, यदि इस समय चतुर्वेदी जी के विरुद्ध मैंने निरालाजी के तर्कों को ही दोहराया तो वे उन सबका नया अर्थ करके चतुर्वेदीजी को वृहत्तर साहित्यकार ही सिद्ध करते चले जाएंगे। इसलिए एक दिन कलकत्ते पहुंच कर मैंने चतुर्वेदीजी के दर्शन कर ही लिए।

चतुर्वेदीजी ऊपर के तल्ले पर दो कमरे लेकर रहते थे। थोरो,

इमर्सन और सी० एफ० ऐंड्रयूज़ की चर्चा तब वे ज्यादा करते थे। (बाद को राष्ट्रकवि के प्रभाव से यह चर्चा कुछ कम हो गई। सीपरी बाज़ार झांसी में एक सज्जन के यहां भोजन करने के लिए चतुर्वेदीजी और राष्ट्रकवि मैथिलीशरण जी गुप्त तांगे में जा रहे थे। चतुर्वेदीजी को कुछ देर तक चुप बैठे देखकर राष्ट्रकवि ने जनपदीय वाणी में कहा, "भैया बनारसीदास, बड़ी देर से इमर्सन और थोरो को नाम नाईं लओ।" इस टिप्पणी के उपरान्त कम से कम उस दिन भोजन के पूर्व और पश्चात् मैंने चतुर्वेदीजी से इमर्सन और थोरो अथवा अन्य किसी महा-वृहद विदेशी साहित्यकार का नाम नहीं सुना।)

चतुर्वेदीजी ने थोरो, इमर्सन प्रभृति महान् साहित्यकारों से हिन्दी के साधारण लेखकों को अनेक बार परास्त कराया। पद्मसिंह शर्मा जैसे दो-एक आचार्य ही हिन्दी की सम्मान-रक्षा के लिए पीठ की धूल झाड़ने से बच गए।

मैंने पूछा, "आप कहते हैं, निरालाजी की कविताएं समझ में नहीं आतीं। कौन-सी कविताएं आपकी समझ में नहीं आतीं?"

चतुर्वेदीजी हंसने लगे। बोले, "मैं कविता समझता नहीं। लोग जैसा कहते हैं, वैसा ही मैंने लिखा।"

मेरे पास एक छोटा-सा कमरा था। चतुर्वेदीजी गमछा पहने थे। अर्थात् उनका शरीर कमर से घुटनों तक ही ढका था। गमछा भी किंचित् उद्राशय उदर के नीचे बंधा हुआ था। चतुर्वेदीजी का फोटू मैंने खींचा। वे प्रसन्न हुए। मैं विदा हुआ।

कई साल बाद हिन्दुस्तानी का आन्दोलन चला। पं० बनारसीदास चतुर्वेदी ने 'विशाल भारत' में उसका समर्थन किया। लखनऊ में एक अनरजिस्टर्ड संस्था थी—सिविल लिबर्टी लॉज। लखनऊ के सभी साहित्यकार चन्दा दिए बिना ही इसके सदस्य होते थे। इसके सूत्रधार थे श्री विनोद शर्मा। संस्था का नाम सिविल लिबर्टी लॉज इसलिए रखा गया था कि यहां हर व्यक्ति की जबान को पूर्ण नागरिक अधिकार प्राप्त थे। किसी तरह की पाबन्दी न थी। मुझे अब भी वह दृश्य याद है जब शाम की चाय के बाद निरालाजी हितैषीजी को कुकुरमुत्ता सुना

रहे थे :

रोज़ पड़ता रहा पानी, तू हरामी खानदानी।

इसपर निरालाजी बार-बार हंसी रोकने का प्रयत्न कर रहे थे और सभासद् हितैषीजी को निष्प्रभ देखकर अट्टहास कर रहे थे।

ऐसी सभा में सम्पादक प्रवर पं० बनारसीदास चतुर्वेदी की हिन्दुस्तानी-समर्थक टिप्पणी पढ़ी गई। तय हुआ कि इसका जवाब दिया जाएगा। आचार्य बिनोद शर्मा ने मुक्त छन्द में कविता लिखी। चतुर्वेदी जी की हिन्दुस्तानी का खूब स्वांग बनाया। विनोद शर्मा उनका उपनाम था; हैं वे भी चतुर्वेदी। आखिर लोहे को लोहा ही काटता है।

कविता तैयार हो गई। प्रश्न उठा, इसके साथ चतुर्वेदीजी का चित्र कौन-सा छापा जाए ?

मैंने सहायता करने का वचन दिया। कलकत्ते में चतुर्वेदीजी का जो फोटू खींचा था, वह ढूंढ़ निकाला। विनोद शर्माजी तथा अन्य सभासदों ने उसे बहुत पसन्द किया। चतुर्वेदीजी को चश्मे के बिना, आंखें मूंदते हुए-से, गमछा पहने नितान्त असाहित्यिक मुद्रा में देखकर हर सभासद हास्यातिरेक से विह्वल हो गया। एक समस्या रह गई। फोटू में चतुर्वेदीजी के कमरे का बहुत-सा सामान दिखाई देता था। आत्मरक्षा के विचार से इसे छिपाना आवश्यक था। एक चित्रकार ने अपनी कूंची से सामान पर कालिख फेर दी। अब फोटू में रह गए केवल चतुर्वेदीजी। कविता—उस चित्र के साथ—माधुरी में छपी।

कई साल बाद जब हिन्दी में मेरे लेखों की संख्या दस-पांच से बढ़कर सौ-डेढ़ सौ तक पहुंच गई थी, चतुर्वेदीजी मिले। हिन्दी साहित्य की अराजकता पर खेद प्रकट करते हुए बोले, "देखिए, मेरे ऊपर माधुरी में कविता छपी है, न जाने किसने उसमें मेरा निहायत भद्दा चित्र भी दे दिया है।"

मैंने सहानुभूतिपूर्ण स्वर में कहा, "आपको भी नहीं मालूम, चित्र किसने खींचा ? बड़े आश्चर्य की बात है ! हिन्दी में दुष्टों की कमी नहीं है।"

फिर श्रद्धासहित प्रणाम करके मैं एक ओर को चल दिला।

जात्रा नाटक

एक बार हास्य रस के प्रसिद्ध लेखक श्री अमृतलाल नागर मुझसे बेहद नाराज़ हो गए थे। बात कुछ नहीं थी लेकिन उनका गुस्सा दर-असल सब हदें पार कर गया था।

हम तीन लेखक दक्षिण भारत की यात्रा के लिए तैयार हुए। हास्य रस के उपर्युक्त प्रसिद्ध लेखक, एक कम प्रसिद्ध कथाकार—राजेन्द्र यादव, और बदनाम आलोचक—मैं। हम तीनों में श्री अमृतलाल नागर ही दक्षिण में काफी दिन रह चुके थे। दक्षिण की यात्रा करने के लिए विशेष प्रोत्साहन उन्होंने दिया था। एक कार्ड में उन्होंने तमिल में मेरा नाम लिखकर सूचित किया था, "जानते हो, यह तमिल में तुम्हारा ही नाम लिखा हुआ है। यानी मैं तमिल सीख रहा हूं। 4 तारीख से बाकायदा मास्टर जी मुझे पढ़ाने आते हैं। आज वर्णमाला पूरी हुई। पढ़ सब लेता हूं, मगर समझता कुछ नहीं।"

ऐसी साफ बात कहने वाले मुश्किल से मिलते हैं। ज्यादा समझ-दार ऐसे ही मिलते हैं, जो बिना पढ़े ही सब कुछ समझ लेते हैं। नागर जी बड़े अच्छे पथ-निर्देशक होंगे, यह सोचकर दक्षिण यात्रा के लिए उत्साह प्रबल होता गया। फिर भी यात्रा का मुहूर्त विचारने में विलम्ब हुआ। नागरजी ने गद्य का भरोसा न करके पद्य में अपील की अथवा यात्रा के लिए मेरा मनोबल दृढ़ किया :

सदा भवानी दाहिने, सुमिरौं सदा गनेस।
पांच देव रच्छा करैं, ब्रह्मा बिस्नु महेस॥
गंगा गौरी पूजके लिखता मनका हाल।
चल दक्खिन की सैर को हे अगिया बैताल।
हे अगिया बैताल चलो दक्खिन को धावैं।
माटी खोद निकाल 'सिंहासन बत्तिस' लावैं॥

जनता बिक्रम वीर बैठ दरवार लगावै ।।
निज गुन को पहचान न्याव कर अतिसुख पावै ।।
चलो यार दिलदार सफर होवै सुखकारी ।
सुन कर, गुन कर, देख, रचैं पोथी अति न्यारी ।।
किला दौलताबाद, अलोरा और अजन्ता ।
चलैं चिदम्बरपूर जहां नटराज नचन्ता ।।
मीनाक्षी, मदरास, कुमारी कन्या देखैं ।
कुछ पुरखों का ज्ञान कुछ अपना अनुभव लेखें ।
लिख दिया मनका हाल—
मजूरी करके आता ।
पांच जून की सांझ
चलूं ले लुटिया छाता ।।

इस कविता के साथ कुछ आवश्यक टिप्पणियां दी जा सकती हैं । नागरजी पुरातत्व के भी विद्वान् हैं, इसीलिए मिट्टी से बिक्रम के सिंहासन खोद निकालने की बात लिखी है । लखनऊ से लछमन टीले की खुदाई के लिए पुरातत्व विभाग की नीवें खोद डालीं, इसलिए वहां कुछ लोग उन्हें टीलाखोदू नागर कहने लगे । 'मजूरी करके आता' का अर्थ है साहित्यिक लिखाई का काम पूरा करके, यात्रा के लिए पैसे इकट्ठे करके आता हूं । अगिया बैताल वाला सम्बोधन मेरे लिए है ।

विजयवाड़ा, मद्रास होते हुए धुर दक्षिण कन्याकुमारी पहुंच गए । सन्ध्या का समय, तीन समुद्रों का मिलन, हिन्द-महासागर का विराट नीलाभ प्रसार, जून में समुद्र-तट की शीतल हवा, अन्तरीप के छोर पर खड़े हुए लगा, हिमालय के सर्वोच्च शिखर से हम सारा देश देख रहे हैं । राजेन्द्र यादव मारे प्रसन्नता के रेत पर अपनी बैसाखी के सहारे दौड़ने लगे । (शायद ही किसीने राजेन्द्र यादव को कभी और कहीं भी दौड़ते देखा हो ।) नागरजी एक चट्टान पर बैठ गए और अपने सर पर —कपड़ों के भीगने की चिन्ता न करके—समुद्र का पानी उलीचने लगे । नागरजी ने बताया: 'इसी शिला पर स्वामी विवेकानन्द बैठे थे ।' मैं कभी नागरजी को देखता, कभी हिन्द महासागर को । समुद्र,

नदियों और झीलों के मिलन के भव्य दृश्य देखते हुए बादलों से ढंकी हुई पर्वत श्रेणी पार करके केरल के कदली वनों के इस पार तेन काशी पहुंचे। पर्वत, झरने, वनों की हरियाली, यहां भी सब कुछ सुन्दर था। लेकिन यहीं नागरजी मुझसे नाराज़ हो गए।

हम लोग तमिल भाषा के प्रसिद्ध विद्वान् टी० के० सी० के० अतिथि थे। उनके यहां इडली-कॉफी प्रसंग के बाद साहित्य-चर्चा आरम्भ हुई। उन्होंने सस्वर महाकवि कम्बन की रामायण के अंश सुनाए। तमिल भाषा से संसार की समस्त भाषाएं कैसे उत्पन्न हुई हैं, यह समझाया। हम लोगों में तमिल के विद्वान् नागरजी ही थे, इसलिए आचार्य की स्थापनाओं का ज़ोरदार समर्थन उन्हीं पर छोड़ दिया गया। आधुनिक साहित्य की ओर बातचीत मोड़ने के लिए नागरजी ने कुछ बातें मेरी तारीफ में कहीं। मैंने सोचा, यहां दोस्त की प्रशंसा करना कर्त्तव्य है। बोला, "नागर जी हास्य रस के प्रसिद्ध और सिद्धहस्त लेखक हैं। इनका-सा हास्य उत्तर-दक्षिण में ढूंढ़े न मिलेगा।" आचार्यजी नागर जी को पहले से ही जानते थे। सुनकर प्रसन्न हुए।

थोड़ी देर में बिदा होकर हम लोग पहाड़ के कटि देश में बनी हुई सड़क पर घूमने निकले। अब नागरजी ने धाराप्रवाह गद्य में भाषण आरम्भ किया। क्रोध से आंखें लाल, वाक्य पद-पद पर स्खलित, कुछ औपचारिक, कुछ अनौपचारिक, हर तरह के मुहावरे। उनके क्रोध का लक्ष्य उनका विनम्र सेवक, इन पंक्तियों का लेखक। नागरजी के क्रोधमय फूत्कार से वन गूंज उठा, झरनों का कल-कल निनाद, चीत्कार में विलीन हो गया, वृक्षों से अनेक पक्षी शब्द-त्रस्त होकर पंख झाड़कर उड़ चले। राजेन्द्र यादव स्तब्ध ! मैं जहां बोलने की कोशिश करता, नागरजी के कण्ठ से वाक्यों के नये स्रोत फूट पड़ते।

नागरजी के क्रोध का कारण क्या था ? यह रहस्य जानै कोउ-कोउ। कारण मेरी तारीफ थी। मैंने उन्हें हास्य रस का प्रसिद्ध और सिद्धहस्त लेखक जो कहा था। लेकिन इसमें बिगड़ने की कौन-सी बात थी ?

मैंने अपनी नासमझी से नागरजी की तौहीन की थी। उन्हें हास्यरस का लेखक कह दिया था। भला हास्यरस का लेखक भी कोई

लेखक होता है ? हास्यरस के लेखक अक्सर हास्यास्पद हो जाते हैं। मुझे कहना चाहिए था कि नागरजी हिन्दी के श्रेष्ठ उपन्यासकार हैं। उस समय तक वह अपना उच्च कोटि का कलात्मक उपन्यास 'महाकाल' लिख चुके थे।

यद्यपि उपन्यास का नामकरण संस्कार मैंने ही किया था, फिर भी, वक्त की बात। उस समय याद ही न आया कि नागरजी 'महाकाल' के बल पर हिन्दी के सभी भूत-अभूत कथाकारों को परास्त कर चुके हैं। मैं उनके हास्य रस की प्रशंसा कर गया।

परिणाम यह कि मैंने प्रेमचन्द की प्रशंसा में जो कुछ लिखा था, उस सबकी नागरजी ने बखिया उधेड़ दी। यद्यपि मैंने कृशन चन्दर की तारीफ में कभी कुछ न लिखा था, न कुछ लिखने का इरादा किया था क्योंकि मैं नागरजी को मन में हमेशा उनसे बड़ा लेखक मानता था, मानता हूं और मानता रहूंगा, फिर भी 'महाकाल' के लेखक ने मेरी अलिखित कृशन चन्दर प्रशंसा को भी ध्वस्त कर दिया। इसके साथ ही उन्होंने उन तमाम प्रगतिशील लेखकों की मरम्मत कर डाली, जो इन दिनों मेरी आलोचना करने में तन-मन-धन से लगे थे लेकिन जिन्हें नागरजी समझते थे कि सब मेरे गुट में शामिल हैं।

मैंने नागरजी को हास्य रस का महत्त्व समझाने का प्रयत्न किया। चार्ल्स लैम्ब, बनार्ड शा, फाल्स्टाफ के सर्जक शेक्सपियर आदि अनेक प्रसिद्ध लेखकों की हास्यरस-सिद्धि का हवाला दिया लेकिन नागरजी अपनी धारणा पर एकदम जमे रहे कि हास्य रस एकदम घटिया रस है।

घण्टे भर घूमने के बाद हम लोग अपने अतिथिगृह पहुंचे। नागर जी की क्रोध-गंगा अभी काशी तक पहुंची थी, बंगाल की खाड़ी तक उसे और पहुंचना था। उनकी भाषा का अनर्गल प्रवाह जारी था। यात्रा में अपने साथ मैं एक ही पुस्तक ले गया था—रामचरित मानस। आड़े समय में गोस्वामी तुलसीदास ही काम आए। मैंने बालकाण्ड खोलकर शिव-पार्वती विवाह का प्रकरण आरम्भ कर दिया। जहां नागरजी ज़ोर से बोलना शुरू करते, मैं और भी ज़ोर से चौपाइयां

पढ़ने लगता। उनकी बात न मैं सुनता, न राजेन्द्र यादव, न उसे वह स्वयं सुन पाते। किन्तु मेरे पाठ बन्द करते ही वे फिर चालू हो जाते। यानी 'हास्य रस का प्रसिद्ध लेखक' कहने के कारण मुझे फिर गालियां देने लगते। इस कारण मुझे फिर चौपाइयों का सहारा लेना पड़ता और पद्यवाणों से उनके कर्णरन्ध्रों को ऐसा वेधता कि वह सचमुच अवाक् रह जाते।

युक्ति और तर्क से परे इस शब्द-प्रतियोगिता में परास्त तो नहीं किन्तु नागरजी थक अवश्य गए। झरने में स्नान करने का राजेन्द्र यादवकृत प्रस्ताव उन्होंने तुरन्त स्वीकार कर लिया।

स्नान के उपरान्त उनका शिरोभाग शीतल हो गया, नेत्रों की अरुणिमा तिरोहित हो गई, उनकी अजस्र वाग्धारा शब्दहीनता के मौन मरुस्थल में खो गई।

मैंने सहज भाव देखकर पूछा, "कुछ देर पहले क्या हो गया था तुम्हें ?"

मधुर सलज्ज स्वर में नागरजी ने उत्तर दिया, "क्या बताऊं भैयो, आज इडली-कॉफी के चक्कर में भांग रह गई थी। इसीलिए भेजा इतना गरम हो गया था।"

तबसे मैं समझ लेता हूं, नागरजी सहज भाव में नहीं हैं तो इसका अर्थ है, उन्हें शिवजी का प्रसाद नहीं मिला। वैसे 'महाकाल' लिखने के बावजूद, यह तो आप भी मानेंगे कि वह हास्य रस के सिद्ध लेखक हैं।

निरालाजी और कवि सुमन

आप लोगों ने श्री शिवमंगल सिंह 'सुमन' का नाम सुना होगा। हिन्दी में अनेक सुमन हैं, इतने कि निरालाजी ने एक कविता का शीर्षक ही रख दिया—हिन्दी के सुमनों के प्रति ! इसलिए केवल 'सुमन' का नाम लेने से आपको भ्रम हो सकता है : श्री रामनाथ लाल 'सुमन', श्री क्षेमचन्द्र 'सुमन', श्री शिवमंगल सिंह 'सुमन' या अन्य कोई अभिनव 'सुमन'। भ्रम दूर करने के लिए मैंने आरम्भ में ही पूरा नाम लिख दिया है क्योंकि घटना ऐतिहासिक है और उसकी तह में अनेक मनोवैज्ञानिक रहस्य हैं।

तो हमारे चरितनायक 'सुमन' श्री शिवमंगल सिंह बैसवाड़े के झगरुपुर ग्राम के निवासी हैं। कविताएं वे बहुत ज़ोरदार ढंग से पढ़ते हैं, कभी-कभी अच्छी कविताएं भी लिखते हैं। कविता में, और सामान्यत: अपनी समस्त साहित्यिक कार्यवाही में वे मुझे अपना गुरु मानते हैं। यद्यपि उनका गुरु होने की योग्यता मुझमें नहीं है, तुलसीदास की उक्ति 'जो गुरु मिलहिं बिरञ्चि सम' आदि स्मरण करके अपनी सीमाएं मान लेता हूं, तथापि यह कवि 'सुमन' की शालीनता है कि मुझे वे सदैव इतना सम्मान देते रहे हैं।

मैंने निरालाजी पर कई कविताएं लिखी हैं। इनमें एक सुमनजी को विशेष पसन्द आई थी। उन्होंने इसके बारे में मुझे लिखा था, "मैंने हिन्दी काव्य में आशा और उत्साह की इतनी ऊंची अभिव्यंजना आज तक नहीं देखी।" कहने वाले कह सकते हैं—तुमने हिन्दी साहित्य में अभी देखा ही क्या है। किन्तु यहां प्रश्न देखने न देखने का नहीं है। प्रश्न है 'सुमन' जी की शालीनता का। वह उनके उस वाक्य से सिद्ध है।

एक अन्य व्यंग्य कविता पर रीझकर उन्होंने मुझे लिखा था, "अब तक मन्त्रमुग्ध हूं। भाषा पर तुम्हारा इतना असाधारण अधिकार

है यह पहले न मालूम था। जन-साधारण की मन:स्थितियों में तुम्हारी इतनी सहज पैठ देखकर बड़ी ईर्ष्या होती है। तुम्हारी लेखनी का लोहा मानना पड़ता है।"

इस वाक्य से सुमनजी के काव्य पर आप सहज ही मेरे प्रभाव की कल्पना कर सकते हैं। यद्यपि व्यंग्य-कविताएं लिखने में सुमनजी को सफलता नहीं मिली, तथापि निराला जी पर उन्होंने कालिदास-विक्रमादित्य वाली जो लम्बी कविता लिखी है, उसपर मेरी रचना का प्रभाव स्पष्ट देखा जा सकता है।

मैंने कहा कि कविता में ही नहीं, सामान्य साहित्यिक कार्य में वे मुझे अपना गुरु मानते हैं। उन्होंने एक पत्र में वाल्मीकि रामायण से एक श्लोक उद्धृत करते हुए मुझे राम और अपने को हनुमान के समकक्ष बताया था। मेरे नाम के साथ राम अवश्य लगा हुआ है, वरना और कोई सादृश्य सम्भव नहीं है। किन्तु 'सुमन' जी का लालिमामय मुखमण्डल देखकर आप कम-से-कम उसके पक्ष में उपर्युक्त उपमा को सार्थक पाएंगे।

लिखा था, "तुम्हारे सत्संग में जो रसात्मकता प्राप्त होती है, वह न किसी साहित्यिक महारथी के सहवास में ही आज तक सम्भव हुई और न किसी सुहृद के सौहार्द से ही सम्भव हो सकी। कभी-कभी ऐसा लगता है कि तुम्हारे साथ काटे हुए कुछ क्षण जीवन के बहुमूल्य ही नहीं अतुलनीय आज भी हैं। मैंने बड़ा पाप किया है, जो इतने दिनों तुमसे अलग रहा।"

यहां भी आप कह सकते हैं कि पाप तो तुमने बहुत से किए होंगे, यदि रामविलास शर्मा से दूर रहे तो उनपर उपकार ही किया, उनका समय नष्ट नहीं किया। किन्तु मैं फिर याद दिला दूं, बात पाप-पुण्य की नहीं है। बात है हृदय की श्रद्धा की, उस श्रद्धा की आत्मविभोर अभिव्यञ्जना की। और इसी पत्र के अन्त में सुमन जी ने यह आशा प्रकट की है: "निश्चय ही तुम मुझे कुछ बना सकते हो—'पारस परसि कुधात सुहाई।'" यानी पारस मैं, कुधातु श्री शिवमंगल सिंह 'सुमन' जो मेरे स्पर्श से अपने पाप दूर करना चाहते हैं।

मेरी साहित्यिक रचनाओं के अतिरिक्त सुमनजी मेरे साधारण पत्रों से इतना प्रभावित हो उठते थे कि लिखते थे, "तुम्हारा बड़ा ही प्रेरक पत्र प्राप्त हुआ। कई दिन तक उसे एक-एक बार पढ़ लेता था। तुम प्रेरणा के अखण्ड स्रोत हो।"

'सुमन' जी के पत्रों में इस तरह की सनदें और बहुत-सी हैं, लेकिन यह ज़रूरत भर को मैंने उद्धृत कर दी हैं। इन्हें उद्धृत करने का उद्देश्य यह है कि आप 'सुमन' जी की शालीनता, उनकी श्रद्धाकुल भावुकता से परिचित हो जाएं। इसके बिना आप उस ऐतिहासिक घटना का मर्म न समझ सकेंगे, जिसका वर्णन मैं आगे करूंगा।

आप सोचिए, जब 'सुमन' जी मुझ जैसे साधारण साहित्यकार के प्रति शब्दों की ऐसी अनुपम श्रद्धांजलि अर्पित करते हैं, तब वे युगप्रवर्तक महाकवि सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला के प्रति अपनी वाक्शक्ति का कैसा चमत्कार दिखाते होंगे। निरालाजी सुमन शब्दावली के अजस्र प्रवाह को देखकर स्तम्भित रह जाते थे, मेरी तरह पुलकित नहीं होते थे।

सुमनजी की श्रद्धाभिव्यक्ति की चर्चा करते हुए मुझे अपने एक हस्त-रेखा विशारद मित्र की याद आती है। वे मेरा हाथ देखकर बता रहे थे—इन दो रेखाओं में इतना फासला है, अमरीकी राष्ट्रपति विलसन के हाथ में भी इसी तरह की रेखाएं थीं।

किसी राष्ट्रपति की रेखाएं अपने हाथ में पाकर मैं सुखानुभूति में डूबा ही था कि मेरे कॉलेज के प्रिन्सिपल महोदय आ गए। मित्र मेरा हाथ छोड़कर उनका हाथ देखने लगे। थोड़ी देर में उन्होंने अमरीकी राष्ट्रपति विलसन की रेखाएं प्रिन्सिपल महोदय के हाथों में भी ढूंढ़ निकालीं। मेरी सुखानुभूति काफूर हो गई।

'सुमन' जी को अन्य साहित्यकारों, राजनीतिज्ञों, समाज के सम्मानित व्यक्तियों के प्रति श्रद्धा अर्पित करते देख चुका हूं। उनके पास श्रद्धा का अक्षय भण्डार है। वे एक को नहीं, अनेक को उससे कृतार्थ करते हैं। यह स्वाभाविक है कि इस प्रक्रिया में कुछ शब्दों की आवृत्ति भी हो जाती है। अब मैं जानता हूं कि 'सुमन' जी के 'प्रेरणा स्रोत' अनेक हैं। निरालाजी यह रहस्य मुझसे बहुत पहले जानते थे।

इसीलिए कहा—सुमन शब्दावली अजस्र प्रवाह को देखकर वे स्तम्भित रह जाते थे, मेरी तरह पुलकित नहीं होते थे।

एक दिन निरालाजी आगरा पधारे। मैंने 'सुमन' जी को सूचना दे दी थी। वे उन दिनों ग्वालियर में थे। वे भी आ गए। निरालाजी बाज़ार से मांस लाए और देर तक उसे पकाते रहे। डेढ़-दो बजा होगा। महाकवि को भूख लगी किन्तु 'सुमन' जी गुसलखाने से निकलने का नाम न ले रहे थे। मैंने एक दो बार खटखटाया, आवाज दी, सुमनजी ने रुकने को कहा। अन्त में निरालाजी का धैर्य छूट गया और वे गरजते हुए बैंसवाड़ी में बोले—"का हुआं जनाना अस घुसा घंटन ते घुसुर-घुसर करत है, निकरु बाहर।"

निरालाजी की आंखें लाल थीं, कुछ क्रोध से, कुछ भूख से, कुछ अपने पाकशास्त्रीय प्रयत्न से। सुमनजी प्रकट हुए, कुछ अस्त-व्यस्त से, कुछ शरमाए से। मैंने कहा—'मेरे कहने से न निकले, जब महाकवि ने जनाना कहा तभी बाहर आए।

अस्तु; कुछ दिन बाद निरालीजी इलाहाबाद पहुंच गए, सुमनजी ग्वालियर आए और अपने शिक्षण, अध्यापन, काव्य लेखन तथा अन्य कार्यों में संलग्न हो गए। अचानक एक दिन समाचार मिला कि सुमन जी इलाहाबाद गए और निरालाजी से मिलने पहुंचे, किन्तु महाकवि ने उन्हें घर में घुसने न दिया। बाहर से ही वापस भेज दिया। और धमकी यह दी कि भीतर जाओगे तो स्त्रियां बैठी हैं, पीट डालेंगी।

अब आप स्वीकार करेंगे कि सुमनजी को निरालाजी ने घर की देहरी से वापस भेज दिया। यह हिन्दी साहित्य की ऐतिहासिक घटना है। सुमन जी में श्रद्धा की कमी न थी। कम-से-कम जितनी श्रद्धा मेरे प्रति थी, निरालाजी के प्रति उससे ज्यादा ही थी। फिर भी निराला जी ने उन्हें भगा दिया। इस ऐतिहासिक घटना की तह में मनोवैज्ञानिक रहस्य हैं। उन्होंने सुमनजी से यह क्यों कहा कि तुम्हें स्त्रियां पीटेंगी।

यह घटना इतनी असाधारण और चमत्कारपूर्ण है कि सम्भव है कि बहुत से पाठकों को उसपर विश्वास न हो। इसलिए मैं सुमनजी

का पत्र उद्धृत करना ही उचित समझता हूं।

24 दिसम्बर, 1945 को सुमनजी ने बनारस से मुझे लिखा था, "मुझे घर तक में नहीं घुसने दिया। कहने लगे 'हुआं मेहरिया बैठी हैं, हुआं जइहौ तो मारि कै चोकरा कइ डरि हैं।' बहुत कोशिश की पर वे एक न माने।"

बहुत दिनों बाद सुमनजी ने मुझसे पूछा—आखिर उन्होंने घर में मुझे क्यों नहीं घुसने दिया? यह क्यों कहा कि स्त्रियां मुझ मारेंगी?

मैंने कहा—आगरे वाली घटना भूल गए? उन्होंने जनाना कहकर तुम्हें फटकारा था न? अब जनाना पर खुद हाथ कैसे उठाते? इसलिए स्त्रियों द्वारा तुम्हारी मरम्मत की बात कही। रही घर में न घुसने देने की बात, तो तुम्हारी श्रद्धांजलियों से ऊब गए होंगे, इसी बहाने पिण्ड छुड़ाया।

सुमनजी को मेरे उत्तर से पूर्ण सन्तोष तो न हुआ किन्तु, पाठक इस पूरे लेख को पढ़कर समझ सकते हैं, मेरा उत्तर काफी हद तक सही था।

झांसी की सरस्वती पाठशाला

झांसी के मोहल्ले बहुत दूर-दूर पर बसे हुए हैं, इनमें शहर, सीपरी बाज़ार और सदर—सभी से दूर सरस्वती पाठशाला नाम का वर्तमान कालेज बसा हुआ है। झांसी का मुख्य और सबसे बड़ा मोहल्ला शहर है। किले से लगा हुआ यही पुराना शहर है; इसीमें झांसी का सबसे बड़ा बाज़ार है, सदर फौजी छावनी से लगा हुआ मोहल्ला है। इससे दो मील के फासले पर स्टेशन पर सीपरी बाज़ार है। इन तीनों मोहल्लों से दूर थी हमारी सरस्वती पाठशाला। दो तरफ सड़कें, सामने जीवनशाह की टौरिया, पास ही झांसी का प्रसिद्ध किला। स्कूल के सामने छोटा-सा खेल का मैदान। कमरों के ऊपर खपरैल। स्कूल के बड़े हाल के ऊपर भी खपरैल। सन् बीस में यहां तीसरे दर्जे में मेरा नाम लिखाया गया था। तब यह सरकारी अथवा अर्द्ध सरकारी स्कूल था। एक दिन स्कूल में मेडल बटे थे जो तांबे या पीतल के बने थे। उनपर 'जार्ज पंचम' की तस्वीर बनी थी। मैं मेडल लेकर घर आया तो बड़े भाई ने कोई प्रसन्नता प्रकट नहीं की।

जिन मास्टर साहब ने यह मेडल दिया था, वह बड़े अंग्रेज़-भक्त थे, साधारणतः वह खूंखार मुद्रा में रहते थे। जिस दिन मेडल बांटे थे, उस दिन जरूर मुस्कराए थे। मेरे सौभाग्य से वह साल भर बाद कहीं चले गए। सरस्वती पाठशाला कुछ दिन में बदलकर राष्ट्रीय सरस्वती पाठशाला हो गई। एक दिन स्कूल के मैदान में विद्यार्थियों और शिक्षकों की सभा हुई और उसमें विदेशी कपड़े न पहनने की प्रतिज्ञा की गई, एक छोटी-सी होली जलाई गई और उसमें लोगों ने अपनी गोल टोपियां फेंक कर जलाईं, मैंने भी अपनी टोपी उतार कर उसमें फेंक दी, घर आने पर मैंने जो कुछ किया था, बता दिया, डाट-फटकार की नौबत न आई, बड़े भाई का समर्थन प्राप्त था ही।

पाठशाला के राष्ट्रीय होने का अर्थ था, सरकार से सम्बन्ध-विच्छेद,

सरकारी शिक्षा-पद्धति का बहिष्कार । बहुत से पुराने शिक्षक चले गए, बहुत से नए शिक्षक आ गए, गांधी टोपी पहनने वाले जितने शिक्षक हमारे यहां थे, उतने झांसी क्या, दो चार ज़िलों के कुल स्कूलों में न रहे होंगे, एक बार गांधीजी आए, स्कूल के पड़ोस में बंगला था, उसीमें गांधीजी को ठहराया गया, इस बंगले के स्वामी लाला गंगा सहाय थे जिनके यहां मेरे पिता मुनीम थे, लाला गंगा सहाय अंग्रेज़ भक्त ठेकेदार थे, राय बहादुरी का खिताब भी उन्हें मिला था; यह याद नहीं, सन् बीस से पहले या बाद को, वह सदर में रहते थे, वहीं बहुत से मकान और दूकानें थीं, बहुत-सा धन्धा अंग्रेजों के सम्पर्क से होता था, इसलिए गांधीजी को अपने बंगले में ठहराकर उन्होंने साहस का काम किया था ।

विद्यार्थी लाइन बनाकर गांधीजी के सामने से धीरे-धीरे निकलते और उनके दर्शन करते जाते थे, वह ज़मीन पर दरी बिछाए बैठे थे, जहां तक मुझे स्मरण है, उनके सिर पर गांधी टोपी नहीं थी, वह पगड़ी पहने हुए थे, शाम को शहर में उनका भाषण था, पिताजी मुझे ले गए, हम लोग मंच के काफी पास थे, गांधीजी ने बोलना शुरू किया तो लोगों को सुनाई न दिया, पीछे वालों ने ज़ोर लगाया, भीड़ बेकाबू हो गई, पिताजी ने उठाकर मुझे कंधे पर बिठा लिया वर्ना कुचल गया होता, उस भीड़ से निकलने में पिताजी को कितना संघर्ष करना पड़ा, इसका अनुमान कंधे पर बैठे रहने पर भी मुझे अच्छी तरह हो गया, भाषण सुने बिना ही हम लोग सदर वापस आए ।

सरस्वती पाठशाला शहर में राष्ट्रीय चेतना का गढ़ थी, उसमें एक बार कांग्रेस का कोई अधिवेशन भी हुआ, उसमें बाहर के कौन से बड़े नेता आए थे, और वह अधिवेशन जिले का था या प्रांत का यह याद नहीं, उसके स्वागताध्यक्ष थे क्लिष्ट हिन्दी के आचार्य चण्डी प्रसाद हृदयेश, उनका छपा हुआ भाषण बांटा गया जिसे मैंने घर पर कई बार पढ़ा और समझ कुछ भी न पाया, सभा में उसे पढ़ने के बाद उन्होंने सी० आई० डी० के रिपोर्टरों को सूचित किया कि जितना समझ में आया हो, नोट कर लें ।

श्री व्रजभूषणलाल त्रिपाठी 'निश्चल' कवि, नाटककार और अध्यापक थे, "बोलिए सप्रेम बार-बार वन्दे मातरम्" उनका लिखा हुआ यह गीत प्रार्थना के रूप में सारे छात्र और अध्यापक गाते थे, वे मेरी कक्षा में न पढ़ाते थे, बड़े भाई को पढ़ाते थे, बड़े भाई साहित्य सम्मेलन की प्रथमा परीक्षा की तैयारी कर रहे थे, मैं उनकी पुस्तकें पढ़ा करता था, भारतेन्दु का 'अद्‌भुत अपूर्व स्वप्न' पढ़कर मेरे मन पर तभी उनके बड़े लेखक होने की छाप पड़ी थी, भूषण के छन्दों की भाषा बहुत अच्छी लगती थी यद्यपि समझ में कुछ न आता था। एक बार बड़े भाई (भगवान दीन शर्मा) के साथ उनके यहां गया। याद नहीं किसीके कहने से या अपने मन से मैंने भूषण की कुछ पंक्तियां सुनाई। त्रिपाठी जी खूब हंसे और मुझ से पंक्तियों का अर्थ पूछने लगे, मैंने कहा—मुझे तो अच्छी लगती हैं; अर्थ आप जानें।

त्रिपाठी जी ने आगे चलकर दसवें दर्जे में मुझे रामचरितमानस का अयोध्या कांड पढ़ाया था, करुणा से अवरुद्ध कंठ, आंखें छलछलाई हुई, घनी मूंछों में ओंठ कुछ कहने का विफल प्रयास करते हुए, लगता था त्रिपाठी जी स्कूल के कमरे में नहीं हैं, तुलसीदास के साथ भरत और कौसल्या का साक्षात् दर्शन कर रहे हैं।

सरस्वती पाठशाला के एक अन्य अध्यापक रुद्रनारायण जी के बारे में महान् उपन्यासकार वृन्दावनलाल जी वर्मा लिख चुके हैं, चन्द्रशेखर आज़ाद के परम मित्र, भगवानदास माहौर और सदाशिव राव जैसे क्रान्तिकारियों के शिक्षक, पंजा लड़ाने में आचार्य, नाटे कद लेकिन लम्बी नुकीली नाक वाले मास्टर रुद्रनारायण हमें ड्राइंग पढ़ाते थे, उन्होंने रेखाओं से निराकार कला का अभ्यास न कराके सीधे मनुष्य की आकृति के चित्र बनाना सिखाया। स्कूल के पास अच्छी काली मिट्टी थी। उसे हम लोग खोद लाते थे और वे हमें मूर्तियां बनाना सिखाते थे। हाल के फर्श पर बैठकर हम लोग मूर्तियां बनाते थे और दीवालों पर लगी हुई राष्ट्रीय नेताओं की तस्वीरें देखते जाते थे। इनमें से कुछ या अधिकांश मास्टर रुद्रनारायण की बनाई हुई थीं। मास्टर साहब खेल-कूद में बराबर साथ रहते थे। वैसे पढ़ने-लिखने और खेल-कूद में मुझे

कोई विशेष अन्तर न मालूम होता था। राष्ट्रीयता की लहर ने छात्रों और अध्यापकों के सम्बन्ध एकदम बदल दिए थे। अनुशासन की समस्या जैसी कोई चीज़ न रह गई थी। सुना था कि पहले के हेड मास्टर श्री शशिभूषण चटर्जी बहुत सख्त आदमी थे और किसी कसूर पर उन्होंने अपने लड़के को भी पेट के बल रेंगने पर मज़बूर किया था। ये सब किंवदन्तियां थीं, फिर भी बेंत लिए घूमती हुई उनकी मूर्ति बड़ी विकराल लगती थी। आगे चलकर वह मुझे बड़े ही सहृदय लगे। किन्तु तब वह हेड मास्टर न रह गए थे।

मास्टर रुद्रनारायण सामने जीवन शाह कोटौरिया पर दौड़कर चढ़ना सिखाते थे। कलाई पंजा लड़ाने की शिक्षा देते थे। उनकी उंगलियां छोटी किन्तु बेहद सख्त थीं। मैंने अनेक बार बाद को भी उनसे पंजा लड़ाया है, मालूम होता था फौलादी शिकंजे में हाथ फंस गया है। एक बार भगवानदास जी माहौर के यहां मेरे साथ गए, तब मेरी अवस्था पैंतीस के लगभग रही होगी। भगवानदास जी से पंजा लड़ाने को कहा, भगवानदास जी शरीर में भारी पड़ते हैं, बेचारों ने बहुत जोर लगाया, पंजे पर शरीर का सारा बोझ डाल दिया लेकिन मेरा पंजा न मोड़ पाए। मेरे बड़े भाई के सहपाठी थे इसलिए लिहाज करके मैंने उन्हें हराना उचित न समझा, फिर भी मुझे हरा न पाने का आज तक उन्हें अफसोस है। मास्टर रुद्रनारायण कुछ-कुछ व्यंग्य में प्रोत्साहन दे रहे थे भगवानदास जी को, किन्तु प्रसन्न हो रहे थे, हंसते-हंसते मुस्कराते हुए मेरी विजय पर। एक दिन मास्टर रुद्रनारायण मेरी बनाई हुई एक मिट्टी की मूर्ति देखकर बोले—तुम तो अभी से इतनी अच्छी मूर्ति बनाते हो, मालूम होता है कुछ दिन में हमसे भी अच्छी बनाने लगोगे। मैंने कहा ऐसा कभी न होगा। उन्होंने नहरन से किसी मूर्ति को कुरेद कर ठीक करते हुए पूछा—क्यों? मैंने उनकी चमकती हुई आंखों की तरफ देखकर कहा—तारीफ सुनकर मुझे अभिमान हो जाएगा, मैं घटिया मूर्तियां बनाने लगूंगा, आप फिर भी बढ़िया बनाते रहेंगे। मास्टर रुद्रनारायण ने यह घटना कई लोगों को खूब हंसते हुए सुनाई। उनकी वजह से मास्टर शब्द मेरे लिए मित्र का पर्यायवाची

हो गया था। उनके जीवन में बहुत से उतार-चढ़ाव आए उनके जीवन-काल में मैं जब-जब झांसी गया, मैं बराबर उनसे मिला और मुझे उनकी आंखों में वैसी ही चमक दिखाई दी। उनका घर एक म्यूज़ियम था जिसमें तरह-तरह के चित्रों, फोटो, मूर्तियां आदि की भरमार थी। उनमें घंटों बैठकर वह राजनीतिक समस्याओं पर बहस करते और इस बात से बेखबर हो जाते कि मेरे मास्टर रह चुके हैं, पुराने छात्र को बहस का इतना मौका न देना चाहिए।

मास्टर स्वरूपनाथ हमें अंग्रेज़ी पढ़ाते थे, कद में बहुत ही नाटे किन्तु पढ़ाने में अत्यन्त कुशल। उनकी लिखावट बहुत ही सुन्दर होती थी। मैंने उन्हें विद्यार्थियों को झिड़कते देखा हो, इसकी याद नहीं। पांचवें दर्जे में कुछ दिन पढ़ाने के बाद वे सरस्वती पाठशाला छोड़कर मैकडनल हाई स्कूल चले आए। जिस दिन स्कूल छोड़ रहे थे, लड़कों के मन बहुत उदास थे। लड़कों ने उनसे साफ कहा—आप दूसरे स्कूल में मत जाइए। उन्होंने बड़े प्यार से सबको समझाया कि उन्हें मजबूर होकर दूसरे स्कूल में जाना पड़ रहा है, आखिर उसी शहर में रहेंगे और लड़के उनसे फिर भी मिल सकते हैं।

सम्भवतः सरस्वती पाठशाला की आर्थिक स्थिति अच्छी न थी, पांचवां दर्जा पास करने के बाद अपने भाई के साथ मैं भी मैकडनल हाई स्कूल आ गया लेकिन सरस्वती पाठशाला के राष्ट्रीय होने के बाद दो वर्षों तक वहां के वातावरण ने मन पर एक अमिट छाप डाल दी। वैसा वातावरण फिर नहीं मिला। इसका कारण अपने बाल्यकाल से प्रेम नहीं है। मुझे तीसरे दर्जे की बहुत कम बातें याद हैं, अध्यापकों के जो चित्र आंखों के सामने आते हैं, वे बहुत आकर्षक नहीं हैं। किन्तु चौथे-पांचवें दर्जे की स्थिति बिलकुल दूसरी है। मुझे अपनी कक्षाओं के अलावा अन्य ऊंची क्लासों के विद्यार्थियों का स्मरण है, मैं अपने पुराने अध्यापकों से बाद को भी मिलता रहा हूं। जब मैं स्वयं अध्यापक हो गया था, तब मैं उन विशेषताओं को आलोचनात्मक दृष्टि से देख सकता था। मेरा अनुमान यही है कि राष्ट्रीयता की लहर के साथ कुछ बड़े सहृदय और कुशल अध्यापक हमारे स्कूल में आ गए थे और उस

लहर से प्रभावित हुए बिना कोई भी अध्यापक न रह गया था।

मुझे परीक्षाओं से कभी प्रेम नहीं रहा। सरस्वती पाठशाला में परीक्षा देने भाई और मैं तड़के स्कूल पहुंचते। फूलों की खूशबू, पक्षियों की चहचहाहट, हवा की ताज़गी—परीक्षाकाल के साथ इन सब चीज़ों की स्मृति जुड़ी हुई है। एक बूढ़ा चपरासी गणेश घण्टा बजाता था। उसकी सफेद लम्बी दाढ़ी खोपड़ी समेत घण्टे की झंकार के साथ हिलती रहती थी। वह स्कूल खुलने के समय योगस्थ होकर विलम्बित लय में घन्टाध्वनि करता और स्वर का कम्पन उसकी दाढ़ी में बिखर जाता किन्तु आंखें संसार से तटस्थ ब्रह्म के ध्यान में लीन रहतीं। वृद्ध गणेश की तरह चना ज़ोर गरम वाला मेवालाल स्कूल के एक सदस्य की ही तरह था। नाक से कुछ अधिक सहायता लेते हुए वह ऐसी आशु कविता करता था कि उसके आर्य समाज और कांग्रेस के भजनीक प्रचारक मात्र थे।

हमारे स्कूल में खेल-कूद और कसरत-कुश्ती का खूब ज़ोर था। कुएं के पास अखाड़ा था जिसमें भाई ज़ोर किया करते थे। मैं दूर से तमाशा देखा करता था। सदाशिवराव आदि वीर लोगों के शरीर में इस अखाड़े की काफी मिट्टी लगी थी। हम लोगों को विश्वास था कि सबसे अच्छे खिलाड़ी हमारे स्कूल में हैं। हरनारायण और गंगाधर जहां गेंद फेंकने वाले हों, वहां किसी भी टीम का जीतना दुश्वार था। हर-नारायण शहर के सबसे तेज़ दौड़ने वालों में थे, गेंद फेंकने के पहले सिर्फ तीन डग दौड़ते थे और इतने ज़ोर से फेंकते थे कि खेलने वाला अजनबी होने पर अचकचा जाता था। गंगाधर धीरे फेंकते थे लेकिन खिलाड़ी के पैर के पास गेंद तिरछी होकर विकेट से टकरा जाती थी। लहीम शहीम आकार वाले भीमप्रतापसिंह—यथा नाम तथा गुण—बहुत अच्छे खिलाड़ी थे (सम्भवतः फुटबाल के)।

सदर बाज़ार से सरस्वती पाठशाला काफी दूर था—करीब मील भर, सड़क का रास्ता ज्यादा लम्बा था। किले के पास पहाड़ी के ऊपर से कच्ची पगडण्डी वाला रास्ता कुछ छोटा था। मैं अक्सर नंगे पैर स्कूल जाता था। झांसी की बजरी भी पैरों को प्रिय लगती थी। स्कूल के ध्यान में रास्ता मालूम ही न होता था।

मेरे स्कूल के शिक्षक

झांसी के किले के बाद उस शहर की सबसे खूबसूरत इमारत विपिन विहारी इन्टर कालेज है जिसका पुराना नाम है, मैकडनल हाई-स्कूल। एक ऊंची पहाड़ी पर बसा हुआ यह स्कूल सदर बाज़ार से निकलते ही दूर से दिखाई देता है। इसकी गहरे लाल रंग की महराब-दार इमारत अब भी हर स्कूल, कालेज और युनिवर्सिटी से मुझे खूब-सूरत मालूम देती है। किसी ने इमारत बनवाई है, तो बनवाने के लिए ऊंची जगह नहीं मिली, किसीको ऊंची जगह मिली है, तो इमारत का नक्शा बनाने वाले अच्छे कलाकार नहीं मिले। लेकिन हमारा हाई स्कूल झांसी की पहाड़ियों के बीच में उन्हीं का अभिन्न अंग-सा बना हुआ एक सुन्दर फूल की तरह खिला हुआ है। इसके बरामदों में खड़े होकर आसपास की पहाड़ियों को देखते हुए कभी मन न भरता था। इसके दरवाज़ों की सीढ़ियों के पास पड़े हुए बड़े-बड़े पत्थर भी हमें दोस्त जैसे लगते थे। क्लास की बेंचों से ये चट्टान ज्यादा अच्छी लगती थीं क्योंकि छुट्टी के समय बैठकर हम यहां मास्टरों की आलोचना करते थे। कभी एक आध पैसे की मटर लेकर खाते थे और गप्पें हांकते हुए अपने को दुनिया के किसी बादशाह से कम न समझते थे।

सदर बाज़ार से आते हुए इसकी चढ़ाई बहुत ऊंची मालूम होती थी। सीढ़ियों पर पहुंचते-पहुंचते पैर थक जाते थे लेकिन एक बार बरामदे में पैर रखते ही सारा शहर पैरों के नीचे दिखाई देता था। इस चढ़ाई से छुट्टी का घन्टा बजते ही हम बदला चुकाते। एक हाथ में किताबें लिए हुए सरपट नीचे को भागते और नारमल स्कूल की दीवार के पास ही जाकर रफ्तार धीमी करते। स्कूल आते समय मैं बड़े भाई की राह ज़रूर देखता था कि तैयार हो जाएं तो साथ

चलें लेकिन लौटते वक्त किसीके साथ की चिन्ता न होती। ध्यान उस समय नल्ला ग्राउन्ड पर होता। कब घर पहुंचें और हाकी लेकर खेलने चलें।

स्कूल से दोस्ती एक दिन में नहीं हुई। दरअसल पहले तो कुछ दिनों उससे डर लगता था। वैसे मैं बहुत छोटा बच्चा भी न था कि स्कूल के नाम से डर जाता। सरस्वती पाठशाला से पांचवीं कक्षा पास करके छठे में यहां भर्ती हुआ था। दर्जे में बैठते ही अंग्रेज़ी के मास्टर साहब ने प्रश्न पूछा। मेरे पास बैठे हुए लड़के (कृष्णचन्द्र ऐन्डला) ने कहा भी "मास्टर साहब, यह अभी भर्ती हुआ है, किताब नहीं है" लेकिन मास्टर साहब ने नाराज़ होकर कहा, "अभी भर्ती हुए हैं तो क्या हुआ, किताब तो लानी चाहिए।" मुझे मास्टर साहब की आंखें चौंधी-चौंधी, आवाज़ मिनमिनाती हुई, मूछें झाड़ू जैसी लगीं। कुछ दिन बाद जब वह समझ गए कि मैं तेज़ लड़का हूं तो उनका व्यवहार बदल गया और मुझे उनकी आंखें सरोवर जैसी निर्मल और उनकी मुस्कराहट चमेली के फूल-सी स्वच्छ मालूम होने लगी। ये मास्टर राजनारायन थे। इन्होंने सातवें दर्जे में भी हमें पढ़ाया। अंग्रेज़ी की पुस्तक में 1911 के दरबार का वर्णन था जिसका एक पैराग्राफ यों शुरू होता था

A hush fell upon the assembled audience while the herald read the proclamation...मास्टर राजनारायण इसे पढ़ाते हुए वाक्य के संगीत और उसमें वर्णित शान्तिमय वातावरण से इतने प्रभावित हो जाते थे कि···

छुट्टी के समय हम लोग मास्टर साहब की मुद्रा बनाकर उन्हींके लहजे में उस वाक्य की रिहर्सल करते थे और इस तरह वह वाक्य हमें रट गया था। अनजाने ही अंग्रेज़ी गद्य के संगीत से मेरा प्रथम परिचय भी इस प्रकार हो गया।

कुछ ही दिन में स्कूल बहुत अच्छा लगने लगा। इसका एक कारण सरस्वती पाठशाला के अपने पूर्व परिचित और प्रिय अध्यापक मास्टर सरूपनाथ का मिल जाना था। वह पांचवें दर्जे में हमें छोड़-

कर इस स्कूल में आए थे। सरस्वती पाठशाला छोड़ने के दिन उन्होंने क्लास में लड़कों को समझाया था कि वह दूसरी जगह क्यों जा रहे हैं। उनके जाने से लड़के बहुत दुखी थे और मास्टर साहब अपराधी की तरह अपनी सफाई दे रहे थे। मुझे उनपर गुस्सा आ रहा था कि आखिर हमसे अच्छे लड़के तो इन्हें दूसरी जगह मिलेंगे नहीं, फिर ये क्यों जा रहे हैं। वही मास्टर सरूपनाथ हमें इस स्कूल में फिर मिल गए। उनके पढ़ाने में जादू था। अंग्रेज़ी की पुस्तक में जब वह अलीबाबा और चालीस चोरों की कहानी पढ़ाते तो कुछ समय के लिए हम झांसी के इस स्कूल से बहुत दूर अलीबाबा के साथ उस गुफा का दरवाज़ा खोलते जहां चालीस डाकुओं ने चोरी का माल इकट्ठा कर रखा था। अलीबाबा की तरह मास्टर सरूपनाथ हमारे लिए कल्पना-लोक का दरवाज़ा खोल देते थे। रात को जब मैं बड़े भाई के साथ खाना खाने बैठता तो उन्हें क्लास में पढ़ा हुआ किस्सा सुनाता लेकिन पिताजी अपनी उदासीनता दिखाकर कोई घर-गिरस्ती की गम्भीर बात छेड़ देते।

मास्टर सरूपनाथ में और कई गुण थे। वह बड़े हंसमुख अध्यापक थे और हमें यह कभी अनुभव न होने देते थे कि पढ़ने में मेहनत भी करनी होती है। उनकी अंग्रेज़ी की लिखावट बड़ी सुन्दर होती थी और हम अपने आप उसकी नक्ल करने की कोशिश करते थे। वह क्रिकेट खेलने के बड़े शौकीन थे और स्कूल के मैचों में कुछ रन भी बना लेते थे। दूसरी टीमों से मैच होने पर वह कैप्टन भी बनते थे। लेकिन अक्सर पहली ही बाल में आउट हो जाते थे।

इससे ज़रा भी निराश न होकर बौलिंग बौलिंग कहते हुए वह गेंद फेंकने वाले की तारीफ करते हुए वापस आ जाते थे। हम लोग भी क्रिकेट बाई चांस कहकर तसल्ली देते थे।

स्कूल में और बहुत से मास्टर थे जिनसे हम लोगों का काफी मनोरंजन होता था। एक लंगड़े मौलवी थे जिनका नाम कभी नहीं सुना, भूषण की तरह वह अपने उपनाम से ही विख्यात थे। उन्हें कई मास्टर छेड़ते रहते थे जिसकी झूठी-सच्ची कहानियां हम लोगों में

दोहराई जाती थीं।

मास्टर शीतला चरण मुखर्जी उर्फ लूकस क्लास में बहुत संजीदा रहते थे। क्लास के बाहर अकेले चलते हुए वह अक्सर होंठों में कुछ बुदबुदाया करते थे। हम लोग कहते थे, एलजेब्रे का सवाल हल कर रहे हैं।

लंगड़े मौलवी को देखते ही वह ऐलजेब्रा भूल जाते, दोनों में तू-तड़ाक का मज़ाक होता और मौलवी साहब बनावटी गुस्सा दिखाते हुए एक तरफ जाते और लूकस मास्टर जीत की हंसी हंसते हुए दूसरी तरफ।

पता नहीं मुखर्जी मास्टर साहब का नाम लूकस कैसे पड़ा। कहते हैं ज्योमेट्री में कभी लोकस की व्याख्या कर रहे थे, तभी लड़कों ने अपने ध्वनिशास्त्र के अनुसार उस शब्द को लूकस में परिवर्तित करके उनका यह उपनामकरण कर दिया। हिसाब पढ़ाते थे और पढ़ाने का ढंग निराला था। बोर्ड पर सवाल लिख देते थे। मैं हिसाब में कमज़ोर था। सवाल उतारकर चुपचाप उनकी एडवर्ड-कट सफेद दाढ़ी स्टडी किया करता था।

घंटा खत्म होने के कुछ मिनट पहले अपनी कापी से वह बोर्ड पर हल किया हुआ सवाल उतार देते और हम शांति से उसकी नकल कर लेते। आठवें दर्जे में वह हमें भूगोल भी पढ़ाते थे। कहां कितना पानी बरसता है, इस प्रश्न से उन्हें बड़ी रुचि थी। नवें दर्जे में भूगोल और इतिहास पहली बार वैकल्पिक विषय बने जिनसे लाभ उठाकर मैंने तुरन्त इतिहास ले लिया।

लूकस मास्टर साहब के बारे में प्रसिद्ध था कि उन्होंने तेरह बार बी० ए० का इम्तहान दिया लेकिन हर बार अंग्रेज़ी में फेल हुए। शायद उनकी अध्यापन-प्रणाली से चिढ़कर लड़कों ने बदला लेने के लिए यह किस्सा गढ़ लिया था। उनके परम मित्र उल्फत राय भी हमें हिसाब पढ़ाते थे। वह बहुत ही अच्छे ढंग से सवाल समझाते थे। लेकिन मुझ जैसों का क्या इलाज जिन्हें बारह के आगे पहाड़े ही याद न थे। वह बोर्ड पर सवाल हल करते और अपनी पीठ पर बायें हाथ से

चुटकी-सी बजाते रहते। मोटा चश्मा लगाते थे। आंखों से ज़रा कम दिखाई देता था। हम लोग मन में आता तो सवाल करते, वर्ना गप्पें लड़ाते। जब ज्यादा शोर होता तो 'सुअर'-'सुअर' कहकर वह एकाध लड़के को डांटते और फिर अपने काम में लग जाते।

वह लड़कों को पोशाक से पहचानते थे। इसलिए लड़के आपस में टोपी बदलकर उन्हें चकमा देते। क्लास में उनके आते ही जूते घिसना आम बात थी। आठवें दर्जे में स्कालरशिप के इम्तहान थे। वह हमें घर बुलाकर पढ़ाते थे। यहां कभी सुअर की गाली सुनने को न मिलती। बिना फीस लिए वह घण्टों मेहनत करते, सिर्फ इसलिए कि हममें से एक-दो को स्कॉलरशिप मिल पाए।

उन कुछ महीनों में मुझे हिसाब भी अच्छा लगने लगा। एक हिसाब के मास्टर और थे ढेरे। क्लास में आते ही सिर की चुटिया फहराते हुए वह लड़कों को शान्त करने के लिए कहते: ढेरे। वह सवाल देकर कापी मांगते और सवाल भी देखते। गलत होने पर कापी फेंककर मुंह पर मारते और लड़का पैंतरे से सावधान न हुआ तो पीठ-पूजा भी कर डालते। उनकी आकर्षक मुद्रा के कारण उनके इन आक्रमणों से हम ज़रा भी विचलित न होते थे। और बड़ी मुश्किल से आता था हफ्ते में एक घण्टा टुइयां मौलवी का। वह आकार में हम लोगों से भी छोटे थे। इसलिए टुइयां कहलाते थे। वैसे उनका दावा था कि काबुल के बादशाह को उन्होंने फारसी पढ़ाई थी। लड़के मेज़ पर कागज़ की गोलियां, कभी-कभी पैसा या चॉक के टुकड़े फेंकते। कुरुक्षेत्र में अर्जुन की तरह टुइयां मौलवी यह सब प्रहार सह लेते; उन्हें डर लगता केवल दरवाज़ा बन्द करने से सो उसकी नौबत साल में एकआध बार ही आती। कारण यह कि हेड मास्टर का कमरा पड़ोस में था। और ज्यादा शोर होने पर वह बेंत लेकर निकल आते। वैसे टुइयां मौलवी ने शायराना मिजाज़ पाया था। और जब वह 'आलिफ' 'बे' 'ते' 'ने' पढ़ाते, तब उनकी बातचीत काफी सरस होती थी। हर अध्यापक की अपनी अदा होती है और उसका पता लगाने में हमें देर न लगती थी।

मास्टर रामदास ज्योमेट्री पढ़ाते थे। क्लास में आते ही बड़ी सावधानी से सिर की गोल टोपी उतारकर मेज़ पर रखते थे। फिर तो उनके मुख से न जाने कितने ट्रायेंगल, पैरललोग्राम, ट्रैपीज़ियम उड़-उड़कर बोर्ड पर बैठ जाते। यह उन्हींकी कृपा का फल है कि ज्योमेट्री में मुझे ये नाम अभी तक याद हैं। नवें दर्जे में कुछ दिन तक एक नाटे कद के मास्टर साहब ने इतिहास पढ़ाया था। उन्हें हम 'हैंड्सअप' कहते थे क्योंकि सवाल करने के बाद वह 'हैड्सअप' कहकर जवाब देने के लिए लड़कों से हाथ उठवाते थे। इतिहास पढ़ना उनके साथ खेल-सा लगता था। यही हाल मास्टर मनीराम अग्रवाल का था। आठवें दर्जे में वह अंग्रेज़ी पढ़ाते थे। और उनके पढ़ाने से ग्रामर भी सरस मालूम होती थी। उन्होंने सी० टी० परीक्षा पास की थी। यह नाम हमारे लिए नया था। हम सोचते थे कि शायद सी० टी० वह होता है जो आंखों पर काला चश्मा लगाता है।

बाद को लड़कों में चर्चा हुई कि उनकी एक आंख पत्थर की है, इसलिए वह काला चश्मा लगाते हैं। घंटे भर उनकी आंखों का गम्भीरतापूर्वक अध्ययन करने के बाद भी हम सभी एक मत न हो पाए थे कि वह आंख दाहिनी है या बाईं। हरिदास पंडित सदा नंगे पैर चलते थे। जब वह हिन्दी पढ़ाते तो हमारी दृष्टि गुरु चरणों पर होती और यही सोचते कि झांसी की पथरीली भूमि अधिक कठोर है या गुरुजी के चरण।

हमें डर लगता था केवल फोनी मास्टर साहब से। श्री फणि भूषण राय उर्फ फोनी बाबू तगड़े-तन्दुरुस्त आदमी थे। उनकी उंगलियां दूर से ही मजबूत और कठोर मालूम होती थीं। हाल में परीक्षा के समय एक लड़का घूम कर दूसरे से बातें कर रहा था। फोनी बाबू पीछे से आए और तड़की आवाज़ से हाल गूंज उठा। वैसे होशियार लड़के उन्हें भी चरका दे जाते थे। कहते हैं, एक बार मेरे बड़े भाई के सहपाठी पं० चतुर्भुज पाण्डे माडर्न ज्योग्राफी डेस्क में रखे नकल कर रहे थे। फोनी बाबू ने यह हरकत देख ली और आगे बढ़ गए। सोचा, लौट कर पकड़ेंगे। पं० चतुर्भुज पाण्डे उर्फ चतरे पंडित भी मामूली

खिलाड़ी न थे। उन्हें नकल करने के लिए पर्चियां बनाते तो मैंने कई बार देखा था। लेकिन जहां फोनी बाबू गार्ड हों वहां किताब ले जाना फणिधर के मुंह में हाथ डालना था। चतरे पं० ने किताब बन्द करके कुर्ते के नीचे कर ली। लौट कर फोनी बाबू ने देखा तो डेस्क से किताब गायब। इधर-उधर देखा, कहीं नहीं। पूछने पर कौन कबूल करता कि नकल हो रही थी। आखिर बोले, कुर्ता उठाओ। चतरे पंडित ने तुरन्त कुर्ते के साथ किताब गले की ओर खींच कर खाली पेट दिखा दिया। इम्तहान का नतीजा निकल जाने के बाद एक बार जब फोनी बाबू ने एकान्त में यह रहस्य पूछा तो चतरे पंडित ने योग्य शिष्य की तरह सब कुछ साफ-साफ बता दिया।

विद्यार्थियों के मित्र की तरह वृद्ध पंडित विष्णु शास्त्री थे। छठे से दसवें दर्जे तक उन्होंने संस्कृत पढ़ाई। मुख्य इमारत से अलग छोटे-से कमरे में डेस्क के सहारे बैठे हुए फुरसत में वह लाल, नीली स्याही से अपनी टोपी रंगा करते थे। विद्यार्थियों पर इतनी कृपा करते थे कि मेरी कापी में अपने हाथ से धातु रूप लिख डाले थे। संस्कृत की पाठ्य पुस्तकें बहुत सोच-समझ कर तैयार की गई थीं। फिर भी रसराज का पूर्ण बहिष्कार न हो पाया था। लड़के कुछ शब्दों के आते ही पं० जी से खोद कर उनका अर्थ पूछते और पंडित जी ज़रा भी झेंपे बिना लड़कों की जिज्ञासा शान्त करके मज़ाक में उन्हें सदा परास्त कर देते थे।

संस्कृत के साथ वह सामाजिक जीवन की अनेक समस्याओं पर भी प्रवचन करते थे जिससे हमारे सांसारिक ज्ञान में काफी वृद्धि होती थी। बीच-बीच में इन्सिपिरेशन के लिए वह बटुए से सुरती छालिया निकाल कर उसका सेवन भी करते। शास्त्रीजी के समान प्रेरणा के स्रोत पं० ब्रजभूषण लाल त्रिपाठी थे। वह सरस्वती पाठशाला में अपने राष्ट्रीय गीतों के कारण हम सबके प्रिय और परिचित थे। "बोलिए सप्रेम बांरबार वंदे मातरम्"—उनका यह गीत सरस्वती पाठशाला में प्रार्थना का गीत बन गया था। दसवें दर्जे में वह तुलसीकृत रामायण का अयोध्या काण्ड पढ़ाते थे। कौसल्या और भरत के मिलन की चर्चा में वह इतने विह्वल

हो जाते कि कुछ समय के लिए हम परीक्षा और स्कूल सब कुछ भूल जाते।

दसवें दर्जे में ही एक साल के लिए हम चक्रवर्ती मा० साहब के संपर्क में आए। वह फैशन से 'बो' लगाते थे, फ़ैशन से अंग्रेज़ी बोलते थे और फैशन से फ्लेक्स के जूते पहने हुए खट-खट करते हुए क्लास में आते थे। लोक सभा में जो सम्बन्ध ट्रेज़री बेंचेज़ और अपोज़ीशन का होता है, वही उनमें और हममें था। उस समय लोक सभा न थी, इसलिए यह समझिए कि हिज़ मैजेस्टीज़ आपोज़ीशन हम लोग थे। वह अंग्रेज़ी भाषा से लेकर अंग्रेज़ी कम्पनी के जूतों तक के प्रशंसक थे। इसलिए उनका विरोध करते हुए हम मर्यादा की सीमा लांघ जाते थे। मेरे सहपाठी रुस्तम सैटिन ने 'मैकिटोश' का अपभ्रंश रूप मखंचू गढ़ कर मास्टर सा० को यह उपाधि दी थी। अवश्य ही यह अनुचित कार्य था, शायद इसलिए वह उस साल हाई स्कूल में फेल भी हो गया। चक्रवर्ती मा० सा० डलहौजी की नीति पर भाषण करते हुए कहते कि देशी रियासतों का टूटना अच्छा हुआ और सन् 57 तक सभी रियासतें टूट जातीं तो अच्छा होता। हम इससे चिढ़ जाते और जोरों से उनका खंडन करते। वामन दास बसु की प्रसिद्ध पुस्तक राइज़ ऑफ क्रिशिचयन पावर इन इंडिया का सारांश हमें एन० कस्तूरी लिखित एक पुस्तक में मिल गया था और यह पुस्तक मुझे श्री प्रफुल्ल कुमार चटर्जी की कृपा से पढ़ने को मिली थी।

चटर्जी मा० साहब को यह बिल्कुल मालूम न था कि मैं उनकी दी हुई पुस्तक का उपयोग चक्रवर्ती मा० को तंग करने के लिए करता हूं। उसमें दिए हुए तथ्यों के बल पर, ब्रिटिश इण्डिया के इतिहास में जहां मा० साहब हिन्दुस्तानियों की हार बतलाते, वहां मैं उसे जीत साबित करने की कोशिश करता। चक्रवर्ती मा० साहब बड़े धैर्य से हिज़ मैजेस्ट्रीज अपोज़ीशन की बातें सुनते। हमारे अनुचित शब्दों के प्रयोग पर भी मुस्कराते रहते। वास्तव में हम न तो किसी अध्यापक से यों बहस करने की जुर्रत करते थे और न कोई हमारे प्रति इतनी सहनशीलता ही दिखलाता था। उन्होंने छमाही इम्तहान की मेरी कापी में अपने

तिरछे नुकीले अक्षरों में लिखा था। Read more, learn more, think more. रुस्तम इन शब्दों को बड़े हाव भाव से दोहराकर अभिनय करता था, वैसे ही जैसे वह जूलियस सीज़र नाटक में ब्रूटस का भाषण दोहराकर अभिनय करता था।

मेरे अनियमित शिक्षकों में लहरी मास्टर थे। उनकी नाक लम्बी थी और लम्बी नाक वालों को मैं झगड़ालू समझता था। एक बार किसी अध्यापक से खुले आम उन्हें ज़ोर से लड़ते भी देखा था। उन्होंने थोड़े ही दिन मुझे पढ़ाया था लेकिन उनका पढ़ाना कहानी सुनने की तरह रोचक लगा था। शशि भूषण चटर्जी मास्टर सा० पहले सरस्वती पाठशाला के हेडमास्टर थे और बड़ी कठोर प्रकृति के लिए विख्यात थे। उनका स्वभाव भी मैंने बड़ा सरल और कोमल पाया। ज़रूरत से ज्यादा सरल थे मा० अशर्फी लाल। क्लास के काम पर गुड और वेरी गुड लिखने से लड़के संतुष्ट न हों तो बेचारे बेस्ट और वेरी बेस्ट भी लिख देते थे। सबसे कम उम्र के अध्यापकों में मास्टर मुन्नालाल थे। एक तो सदर बाज़ार के, दूसरे अनेक परिचित जनों के सहपाठी। आश्चर्य है कि उनका अनुशासन सब कैसे मानते थे। उनके साथ पढ़ते हुए यही लगता था कि घर पर किसीसे बातें कर रहे हैं। अत्री मास्टर साहब ने बहुत थोड़े समय पढ़ाया था लेकिन मेरी दृष्टि में वह अंग्रेज़ी के अन्यतम शिक्षक थे। कारण यह कि उन्होंने एक परीक्षा पत्र में मुझे पचास में से चालीस नंबर दिए थे। उसके बाद उतने नम्बर लाने की मैंने बहुत कोशिश की लेकिन फिर वैसा योग्य परीक्षक न मिला।

बहुत ही आत्मीयता से पढ़ाने वालों में थे हमारे प्रिय मा० साहब प्रफुल्ल कुमार चटर्जी। हमें उनकी हर बात अच्छी लगती थी और विद्यार्थियों में उसपर बारीकी से टीका-टिप्पणी होती थी। बाल कितने घुंघराले हैं, बनावटी हैं या सहज घुंघराले हैं। बन्द कालर का कोट क्यों पहनते हैं, पैरों में साइकिल क्लिप से पतलून क्यों बंधी रहती है, कलम भी नए ढंग का है जिसका निब भीतर चला जाता है, राइटिंग कितना सुन्दर होता है, डाटना-फटकारना तो जानते ही नहीं, इत्यादि महत्त्वपूर्ण विषयों पर अक्सर चर्चा होती थी। नवें दर्जे में ऐन्टनी

ट्रोलप के एक उपन्यास का अंश पाठ्य पुस्तक में था। उसमें समुद्र तट का दृश्य, सेवार इकट्ठा करने वाली लड़की का चट्टानों पर उछलना, इंग्लैंड के साधारण जनों का रहन-सहन, यह सब क्लास में इतना सजीव हो उठता था कि मुझे मानना पड़ा कि अंग्रेज़ी साहित्य भी सरस हो सकता है।

मैं कभी-कभी उनके इतिहास के क्लास में भी चला जाता था। चार बज गए हैं, छुट्टी हो गई है, लेकिन चटर्जी मा० साहब का क्लास चल रहा है। बोर्ड पर रंग-बिरंगी खड़िया से नक्शा बना हुआ है और हम नैपोलियन के साथ आस्टर लिट्ज़ के मैदान में हैं। इतिहास, साहित्य, हाकी और क्रिकेट, सभी विषयों पर क्लास के बाहर भी उनके साथ चर्चा होती। जीमखाना ग्राउन्ड पर बैठकर वह हाकी मैच देखते और टोप में उलट कर मूंगफली भर लेते। खाते खिलाते हुए मैच पर कमेंट्री करते जाते। उनके बंगला पत्रिकाओं में छपे हुए लेख देखकर लेख लिखने की इच्छा होती। आगे चलकर उनके साथ फ्रांसीसी भाषा पढ़ना भी शुरू किया था और बनारस के बारे में उनसे न जाने कितने किस्से सुने थे। सबसे अधिक उनका प्रसन्न हास्य हमें सदा आनंदित करता था। वह शिक्षक होने के साथ मेरे परम आदरणीय मित्र भी रहे हैं। और अज्ञात में अजस्र प्रेरणा स्रोत भी हैं।

यह प्रसन्नता की बात है कि अब मैकडानल हाई स्कूल वि०वि इण्टर कालेज है और हमारे चटर्जी मास्टर साहब उसके प्रिंसिपल हैं। कालेज की जयन्ती के अवसर पर मैं उस प्रिय शिक्षालय और अपने सभी कृपालु शिक्षकों को प्रणाम करता हूं।

लक्ष्मीवाहन

एक बार रात्रि में जब विष्णु भगवान और लक्ष्मीदेवी शयन कर रहे थे, गरुड़देव उलूकराज से बोले—"हे मित्र उलूक ! संसार में मनुष्य नाम के जन्तु ने तुम्हें मूर्खता का पर्यायवाची माना है, फिर भी भगवान विष्णु की धर्मपत्नी लक्ष्मीदेवी ने तुम्हें अपना वाहन चुना इसका कारण मुझे बताने की कृपा करो।"

उलूक ने प्रसन्न मन से पंख फुलाते हुए उत्तर दिया—"सुनो मित्र गरुड़ ! इस रहस्य को भगवान विष्णु, लक्ष्मीदेवी और मेरे सिवा चौथा कोई नहीं जानता। पर परम गुह्ययोग मैं तुम्हें सुनाता हूं। मेरी विभूतियों का वर्णन सुनकर तुम्हारे ज्ञान के नेत्र खुल जाएंगे। मैं ही आत्मस्वरूप करके सम्पूर्ण प्राणियों के हृदय-कमल में स्थित हूं। मैं ही मानव-समाज की स्थिति और प्रलय का हेतु हूं। मैं मनुष्यों के बीच मिनिस्टर हूं, उद्योगियों में ब्लैक मार्केटियर हूं, अधिकारियों में रिश्वतखोरी हूं, राजनीतिज्ञों में साम्राज्यवादी हूं, मुद्राओं में डालर हूं, अस्त्र-शस्त्रों में एटम बम हूं, श्रृंगार के प्रसाधनों में लिपिस्टिक हूं, साहित्य में प्रयोगवाद हूं, वृक्षों में धतूरा हूं, जानवरों में उलूक हूं, उञ्चास पवनों में लू हूं, रसों में बीभत्स रस हूं, योजनाओं में पंचवर्षीय योजना हूं, संघों में ब्रिटिश कामनवेल्थ हूं, सन्धियों में सीटो (दक्षिणी-पूर्वी एशिया सन्धि) हूं, और वाहनों में लक्ष्मीवाहन हूं। हे मित्र गरुड़ ! मेरी दिव्य विभूतियों का अन्त नहीं है। यह तो संक्षेप में उनका रहस्य जानो। जो ऐश्वर्यमान और श्रीमान् लोग संसार का कल्याण करने के लिए निमित्तमात्र होकर जनता को मोक्षधाम पहुंचाते हैं, उन सबको मेरे तेज से उत्पन्न हुआ जानो।"

इसपर गरुड़राज ने चोंच उठाकर कहा—"मेरे ऊपर अनुग्रह करके जो आपने यह परम ज्ञान प्रकट किया है, उससे मेरे मन का भ्रम

दूर हुआ। फिर भी आपके ऐश्वर्य के अनुकूल जो आपका आकार है, उसको देखने की इच्छा प्रकट करता हूं। यदि अपने रूप को मेरे देखने योग्य मानते हों तो मुझको अपना अशेष रूप दिखाओ।"

इसपर लक्ष्मीवाहन उलूकराज ने अपने विशाल नेत्र फैलाकर कहा, "हे मित्र गरुड़ ! अब तुम सैकड़ों और हज़ारों प्रकार के वर्णों से युक्त मेरे दिव्य रूप को देखो। किन्तु तुम अपने साधारण नेत्रों से मेरा रूप नहीं देख सकते, सो मैं तुम्हें अपनी अन्धकारभेदी मर्म दृष्टि देता हूं। सो अब मेरा रूप देखो।"

तब गरुड़ ने उलूक के शरीर को एक देश में स्थित अनेक प्रकार से जुदा-जुदा देखा। गरुड़ ने देखा कि विशालकाय उलूकराज का एक पंजा वाशिंगटन में है, दूसरा लंदन में, चोंच कराची में है और दृष्टि दिल्ली पर है। उसके गले में सुन्दर माला है जिसमें लाखों डालर और हज़ारों पाउंड स्टर्लिंग चमक रहे हैं। उनके विराट् पंखों में अनगिनत तोपें बंधी हुई हैं जिनमें बायें पंख की तोपों का मुंह मास्को की ओर है और दायें पंख की तोपों का मुंह पेकिंग की ओर। उनके कंठ से बराबर प्रलयकारी गर्जन निकलता है जो बमबाज़ वायुयानों की गड़गड़ाहट है। अन्तरिक्ष में खड़े हुए सैकड़ों किन्नर और गंधर्व उनकी स्तुति कर रहे हैं। इन भाषाओं के मेल से तुमुल कोलाहल हो रहा है। चीनी में ऋषि च्यांगकाई शेक, अंग्रेज़ी में मुनि ईडन, वियतनामी में राजर्षि बाओ दाई, उर्दू में संत मुहम्मद अली, और इसी तरह फ्रांसीसी, पुर्तगाली, थाई, फिलिपिन आदि भाषाओं में अनेक सन्त और महात्मा उनका स्तवन कर रहे हैं।

अब तक रात बीत चुकी थी। आकाश में ऊषा की लालिमा फैलने लगी थी। गरुड़ को दी हुई उलूक दृष्टि का प्रभाव समाप्त हो गया और गरुड़राज ने देखा, उसके सामने वही चिरपरिचित लक्ष्मीवाहन की छोटी-सी मूर्ति है। गरुड़राज आंखें मलमलकर सोचने लगे—जो देखा था, सब उलूक माया है अथवा सत्य है !

आकाश में फैलती हुई लालिमा उलूकराज को प्रिय न थी। वह अपने मित्र गरुड़ से बोले—अब मैं लक्ष्मीदेवी की सेवा को जाता हूं।

दुष्ट सूर्य नित्य प्रति लाल झंडा लेकर पूर्व में उदय होता है। एक दिन इसे एक सौ नौ में कारागार भेजकर चिरन्तन अन्धकार में आनन्द से विहार करूंगा।

यह कहकर उलूकराज पंख फड़फड़ाते हुए उड़ गए और गरुड़राज बैठे हुए उनके निशाचरी प्रताप पर विचार करते रहे।

तीन लोक से मथुरा न्यारी

जब मथुरा तीन लोक से न्यारी है, तब वह लखनऊ की गुलामी कैसे कर सकती है ? भारतीय संस्कृति का नाश करने वालों ने उसे उत्तर प्रदेश में शामिल कर रक्खा है। इस नामाकूल बेडौल राज्य के बंटवारे के पक्ष में यह दलील और है जिसे आप ध्यान में रक्खें।

कर्जन ने सबसे पहले बंगाल के बंटवारे की बात की थी। बंगाली कौम इतनी पिछड़ी हुई है, इसका अन्दाज़ इसी बात से हो जाता है कि सन् 1905 में वह जिस बंटवारे का विरोध करती थी, उसीको 1947 में उसने मंजूर कर लिया। इसलिए खैरियत इसी में है कि बंटवारा आप मंजूर करें, वर्ना कुछ दिन बाद तो उसे मंजूर करना पड़ेगा ही।

सबसे बड़ी बात यह कि बंगाल के बंटवारे की बात अंग्रेज़ों और लीगियों ने चलाई थी। स्वार्थवश बंटवारा करने में कौन-सी बहादुरी है ? तारीफ तो तब है कि धर्म एक हो, भाषा एक हो,संस्कृति एक हो फिर भी बंटवारा किया जाए। इस दृष्टि से उत्तर प्रदेश का विभाजन कितना निःस्वार्थ होगा, आप सोच सकते हैं। इस तरह का निःस्वार्थ काम न तो अंग्रेज़ों को सूझा था न मुस्लिम लीगियों को। स्वाधीन भारत की राजनीति ने जो प्रगति की है, उसीसे यह सम्भव हुआ है।

देश में जगह-जगह लोग भाषाओं के आधार पर राज्य बनाने की बात करते हैं। एक भाषा के आधार पर एक राज्य बनाया तो कौन-सा बड़ा काम किया ? बड़ा काम यह है कि एक भाषा के आधार पर अनेक राज्य बनाए जाएं। हिन्दी वालों की उदारता देखिए कि दिल्ली बिहार, उत्तर प्रदेश, मध्य भारत आदि को मिलाकर एक राज्य बनाने की मांग वे नहीं करते। क्यों नहीं करते ? इसलिए कि समस्त हिन्दी वालों का एक राज्य बहुत बड़ा हो जाएगा, देश की सुरक्षा खतरे में पड़ जाएगी, बेडौल तो वह होगा ही। जरा रूसियों को देखिए। सारे

सोवियत संघ में सोलह गणराज्य हैं लेकिन इनमें अकेला रूसी गणराज्य मास्को से लेकर सुदूर व्लादीवस्तोक तक चला गया है। इतनी बड़ी भौगोलिक इकाई स्वयं सोवियत संघ के लिए खतरा है, यूरोप की सुरक्षा के लिए तो और भी है। रूसियों को चाहिए कि इस विषय में उत्तर प्रदेश का विभाजन चाहने वालों से सबक लें और रूसी गणराज्य को कम से कम पांच हिस्सों में और बांटें। (विश्वस्त सूत्रों से पता चला है कि रूस के प्रधान मंत्री बुल्गानिन और उत्तर प्रदेश के भूतपूर्व मन्त्री पालीवाल में इस विषय पर शीघ्र ही वार्ता होने वाली है।)

हम जो उत्तर प्रदेश का बंटवारा चाहते हैं, न केवल रूसियों से उदार हैं, निःसन्देह हम पड़ोसी चीन से भी इस मामले में उदार हैं। साठ करोड़ चीनियों ने इतने बड़े देश में दस-पांच राज्य भी नहीं बनाए। शासन की सुविधा के लिए उन्होंने चीन को दो हिस्सों में बांट रक्खा है। मतलब यह हुआ कि लगभग तीस करोड़ जनता शासन के एक केन्द्र के नीचे है। चीन के लोग इन्सानी पैदावार भी बहुत तेज़ी से बढ़ाते हैं। अब सोचिए, एक ही गणराज्य के अन्दर, या शासन के एक ही केन्द्र के नीचे तीस करोड़ आदमी रखकर, पड़ोसी चीन कैसे तरक्की कर सकता है? अगर पांच करोड़ आबादी का भी एक सूबा बनाएं, तो भी चीन में बारह गणराज्य होने चाहिएं। आशा है, पड़ोसी चीन इस बात पर ध्यान देगा।

हम निःस्वार्थ भाव से उत्तर प्रदेश का विभाजन चाहते हैं। पन्नि-कर महोदय को ज़रा भी दहशत में नहीं रखना चाहते कि हिन्दी वालों की एकता से अहिन्दियों को खतरा हो। चार सूबे मिलाकर मध्य-भारत बनाया गया, हम इसका भी विरोध करते हैं। चार राज्यों के हिन्दीवाले मिलकर एक राज्य बना लेंगे तो इससे भी इनके अन्दर "हम हिन्दी भाषी एक हैं", यह चेतना फैलेगी। इसलिए हम चाहते हैं, मध्य भारत का बेडौल सूबा न बने और उत्तर प्रदेश के भी दो हिस्से किए जाएं।

बेकारी का ज़माना है। वैसे ही पढ़े-लिखे बेकार सरकार को परे-शान किया करते हैं, अब राजनीतिक नेताओं की बेकारी और बढ़ने

वाली है। चार राज्यों की जगह एक राज्य बना—मध्य भारत। अब सोचिये, कितने मन्त्री, उप-मन्त्री, पार्लमेंटरी सेक्रेटरी आदि बेकार हुए। कहीं सभी हिन्दी वालों को मिलाकर एक राज्य बना, तो बेकार राजनीतिक नेताओं की बाढ़ आ जाएगी और यह बात अपने आप में देश के लिए एक बड़ा खतरा बन जाएगी। इसलिए हिन्दी वालों का एक राज्य बनाया जाए, यह विचार तो मन में लाइए ही नहीं। भाषा के हिसाब से प्रान्त बनें, यह सिद्धान्त कम से कम हिन्दी वालों के लिए तो गलत है। हमारा सुझाव है कि नेताओं में ज्यादा बेकारी बढ़ाने के बदले जो बेकारी उनमें पहले से फैली हुई है, उसे दूर किया जाय। उत्तर-प्रदेश के बंटवारे से कुछ भूतपूर्व मन्त्री आदि धन्धे से लग जाएंगे, इसमें किसे सन्देह हो सकता है?

अस्तु! अक्लमन्द के लिए इशारा काफी है। भलाई इसी में है कि इस राज्य का बंटवारा कर दीजिए। वर्ना याद रखिए मथुरा तीन लोक से न्यारी है। पाकिस्तान की तरह वह भारत से न्यारी हो गई तो आप क्या कर लेंगे?

डलेस की भारत-संबंधी रिपोर्ट

जिस समय डलेस हवाई जहाज़ की खिड़की से झांक कर ताजमहल देख रहे थे, उस समय उनकी जेब से यह रिपोर्ट गिर पड़ी थी। यह रिपोर्ट भारत सम्बन्धी है और सीटो की गुप्त बैठक में पढ़ी गई थी। उसका सारांश हम यहां पर दे रहे हैं।

भारत में कम्युनिज्म का खतरा कितना बढ़ गया है, इसे बहुत कम लोग जानते हैं। सीटों की ताकतों को इसपर तुरन्त ध्यान देना चाहिए वर्ना पाकिस्तान का अस्तित्व खतरे में पड़ जाएगा। पाकिस्तान के खतरे में पड़ने का मतलब है, अमरीका खतरे में पड़ा, जिसका मतलब है सारी दुनिया खतरे में पड़ी। पाकिस्तान की हुकूमत अगर यह समझती है कि हिन्दुस्तान उसपर हमला करेगा तो यह शक बिलकुल ठीक है। हिन्दुस्तान के लोगों का एक गीत है जन गन मन। इसमें हिन्दुस्तान के सूबों में पंजाब, सिन्ध और बंगाल का नाम भी आता है सोचने की बात है कि अब हिन्दुस्तान में सिर्फ आधा पंजाब और आधा बंगाल है। फिर भी गीत में पूरे पंजाब और बंगाल का हवाला है। यह गीत रवीन्द्रनाथ नाम के एक कवि ने लिखा था। वह पाकिस्तान का जबर्दस्त दुश्मन था, इसलिए उसने पंजाब, सिन्ध और बंगाल को अपने देश में गिना है। रवीन्द्रनाथ नाम का यह कवि रूस भी गया था। वहां से उसने हिन्दुस्तान के कम्युनिस्टों को एक चिट्ठी लिखी थी जो रूस की चिट्ठी के नाम से छपी है। इस चिट्ठी को जो भी पढ़ेगा, उसे फौरन पता चल जाएगा कि रवीन्द्रनाथ रूस का एजेन्ट था। ऐसे आदमी को नोबेल प्राइज़ दिया गया जिससे जाहिर है कि उसकी मदद करने वाला एक अन्तर्राष्ट्रीय कम्युनिस्ट गुट था, अफसोस की बात है कि अब वह दुनिया में नहीं है, वर्ना हम उसे अमरीका-विरोधी कार्यवाही की जांच करने वाली कमेटी के सामने पेश करते। हिन्दुस्तान के लोग उसी का बनाया हुआ गीत गाते हैं जो साबित करता है कि कम्युनिस्टों के कल्चरल फ्रंट का असर सारे हिन्दुस्तान में है। जब हिन्दुस्तान का

प्रधान मंत्री नेहरू रूस गया था तब उसके स्वागत में रूसी कम्युनिस्टों ने अपना गीत गाया और रवीन्द्रनाथ का जन गन मन भी गाया। इससे भी साफ ज़ाहिर होता है कि रवीन्द्रनाथ के गीत में कम्युनिज्म का ही प्रचार किया गया है।

हम लोग कम्युनिस्टों को 'रेड' कहते हैं। हिन्दुस्तान की ज़बान में इसे लाल कहते हैं। सुना है कि पहले हिन्दुस्तान में एक राजा था जिसका नाम लालबुझक्कड़ था। हिन्दुस्तान में हमने जो गुप्त रिसर्च-सेंटर कायम किए हैं, उन्होंने मुझे खबर दी है कि इस राजा के बारे में सैकड़ों कहानियां गांवों में कही जाती हैं। यह राजा रूसी कम्युनिस्ट लीडर लेनिन से बहुत पहले पैदा हुआ था। इससे आप समझ सकते हैं कि हिन्दुस्तान में कम्युनिज्म का प्रचार कितने दिन से हो रहा है। जब रूस में कम्युनिज्म न आया था, तब से कम्युनिस्ट एजेन्ट हिन्दुस्तान अपना काम कर रहे हैं। और यह काम किस्से-कहानियों के ज़रिये गांवों तक फैल गया है। यह सबसे खतरनाक बात है। बैंकाक में हम सीटो का जो रिसर्च सेंटर कायम करेंगे, उससे और भी ऐसी बातों का पता चलेगा।

हिन्दुस्तान में एक देवता की पूजा की जाती है जिसका नाम हनुमान है। लोग इसकी मूरत को लाल रंग से रंग देते हैं। इससे ज़ाहिर है कि हनुमान भी कम्युनिस्ट था। सुना है कि राम का जासूस बनकर लंका में आग लगा दी थी जो इस बात का सबूत है कि कम्युनिस्ट बहुत काल से तोड़फोड़ और आग लगाने का काम करते आए हैं। जहां-जहां हनुमान की मूरत होती है वहां-वहां लाल झण्डा भी लगा रहता है। उसके कम्युनिस्ट होने का इससे अच्छा सबूत और क्या होगा ?

हिन्दुस्तान की औरतों में कम्युनिज्म का बहुत प्रचार है। जब इनकी शादी हो जाती है तब ये अपने सिर के बीच में बालों को अलग करके लाल रंग लगाती हैं। इतना ही नहीं, जब इनके यहां कोई त्योहार होता है, तब पैरों में लाल रंग लगाती हैं जिसे हिन्दुस्तानी ज़बान में महावर कहा जाता है।

कोई ताज्जुब नहीं कि हिन्दुस्तान के लोगों ने जवाहर लाल को अपना लीडर बनाया है। इनके नाम में 'लाल' लगा है जिसके माने रेड है। मैं बहुत पहले से कहता रहा हूं कि जवाहरलाल छिपा हुआ कम्युनिस्ट है। दरअसल वह छिपा नहीं, खुला कम्युनिस्ट है क्योंकि उसका नाम ही पुकार-पुकार कर कह रहा है कि वह कम्युनिस्ट है। उसका बाप भी कम्युनिस्ट था जैसाकि उसके नाम मोती 'लाल' से ज़ाहिर है। हिन्दुस्तान में बहुत लोग नाम के साथ लाल लगाते हैं। यानी कम्युनिस्ट होना वहां एक फैशन है। मिसाल के लिए एक नाम देखिए सुन्दरलाल। यह अपने को गांधी का चेला कहता है लेकिन चीन से दोस्ती करने की सोसायटी का प्रेसीडेंट है। वह अभी रूस भी गया था। यह बुड्ढा चीन, रूस और हिन्दुस्तान के कम्युनिस्टों के बीच खबरें पहुंचाने का काम करता है।

हिन्दुस्तान की पुलिस आमतौर से लाल पगड़ी पहनती है। यह सब नेहरू के इशारे पर होता है।

हिन्दुस्तान में एक त्योहार मनाया जाता हैं जिसे होली कहते हैं। इस त्योहार में सब लोग अपना मुंह लाल कर लेते हैं और एक दूसरे के कपड़ों तक को लाल कर देते हैं। यह कम्युनिज्म के पक्ष में एक तरह का मास डिमौंस्ट्रेशन (Mass demonstration) होता है। सीटो में इस मीटिंग के बाद कुछ दिन में यह त्योहार मनाया जाएगा। कोई ताज्जुब नहीं कि उस वक्त हिन्दुस्तान पाकिस्तान पर हमला कर दे। इसलिए मेरी राय में हम लोगों को चाहिए कि कश्मीर के मसले पर यहां विचार करें। कश्मीर पर हमला करने के लिए अमरीका पूरी तरह हथियार भेजने के लिए तैयार है। पाकिस्तान की सरकार को दिलेरी से काम लेना चाहिए। हम उसकी मदद करेंगे। गोआ और कश्मीर हमारे दोस्त हैं और रहेंगे। पाकिस्तान ने कश्मीर के थोड़े हिस्से पर कब्ज़ा किया है। उसे चाहिए कि पूरे काश्मीर पर कब्जा जमा ले इससे नेहरू की अकल जरा ठिकाने आ जाएगी। एशिया के इस हिस्से में कम्युनिज्म को रोकने और 'वर्ल्ड पीस' की हिफाज़त करने का यही तरीका है।

खुली हवा

कल मैं एक लेख लिख रहा था—'नये उपन्यास : नयी दिशा।' इलाचन्द्र जोशी के 'जहाज़ का पंछी' और अमृतलाल नागर का 'बूंद और समुद्र' में पागलों का चित्रण देखकर मुझे लगा, ये दोनों कलाकार यों ही मानसिक असन्तुलन के इन दृश्यों की ओर आकृष्ट नहीं हुए। जिस सामाजिक बीभत्स को उन्होंने चित्रित किया है, उसमें आदमी शारीरिक और मानसिक रोगी होने के अलावा और हो क्या सकता है।

तीसरे पहर दो मित्र आ गए और घूमने के निमन्त्रण पर आगरे से दिल्ली जाने वाली सड़क पर मैं भी उनके साथ बढ़ चला। बात चली लोगों के स्वास्थ्य को लेकर। एक मित्र ने आश्चर्य प्रकट किया कि ऐसी अस्वास्थ्यकार परिस्थितियों में रहते हुए, ऐसा सड़ा-गला खाना खाते हुए भी इतने कम लोग क्यों मरते हैं। मुझे एक लेखक की याद आई। कहा करते थे—अच्छा घी खाने से आप लोगों की हेल्थ अण्डर-माइन हो गई है; हम डालडा खाते हैं और बीमारी पास नहीं फटकती। आजकल बेचारे अस्पताल में हैं। लगभग दो महीने हो गए; पता नहीं कब ठीक हों।

आगरा-दिल्ली रोड पर पागलखाना पड़ता है। अनेक संभ्रांत नागरिक सबेरे-शाम इधर टहलने आते हैं। सिकन्दरा की ओर बढ़ते हुए मेरे मित्र नहर के पास से बाएं घूमे और एक अमरूदों के बाग में पहुंच गए। कोठी बने तो कितने बीघे और ज़मीन हो, बाग में चार-पाई डालकर सोने या लिखने-पढ़ने में कितना आनन्द आए, इसकी चर्चा होती रही। बाग से खेतों में पहुंचे। चारों तरफ फूली हुई सरसों का समुद्र लहरा रहा था। गाढ़े हरे रंग की अरहर में फूल आ गए थे। चने के पौधे लहलहा रहे थे। पानी पड़ने से हर तरफ अच्छी

फसल होती दिखाई देती थी। एक खेत में जौ की बालें भी निकल आई थीं। खेतों के बीच में काफी बड़ा गलियारा था जिसके बारे में किसानों ने बतलाया कि यह आगरे से दिल्ली तक जाने वाला दगड़ा था जिस पर बंजारे माल ढोया करते थे। लगभग मील भर के फासले पर शहर दिखाई देता था। खेतों की शोभा देखकर एक मित्र ने कहा—कितनी अच्छी हवा है यहां की; सामने मैदान पड़े हैं। हज़ारों आदमियों के रहने के लिए यहां मकान बन सकते हैं। एक बार लड़ाई में बम-बम गिरें और शहर का सफाया हो जाए, तब फिर यहां नयी आबादी बसे।

सुरक्षा-परिषद में कश्मीर को लेकर पकिस्तान के अभियोग की बात चली। लड़ाई की सम्भावना दिखाई दी। लड़ाई होने पर यहां के मुसलमान किसका साथ देंगे, इस प्रश्न का विवेचन हुआ। पाकिस्तान बनाने का मुख्य श्रेय उत्तर प्रदेश के मुसलमानों को है, इस तथ्य की व्याख्या से यही परिणाम निकाला गया कि युद्ध होने पर यहां के मुसलमान पाकिस्तान का साथ देंगे।

आगरे से दिल्ली जाने वाले बंजारों के पुराने दगड़े से होते हुए हम शहर की ओर बढ़ते हुए आसपास के मैदान देख रहे थे कि कुछ किसान आकर खड़े हो गए। बातचीत होने पर पता चला कि वे हमें किसी कम्पनी का आदमी समझे थे जो वहां की ज़मीन खरीद कर मकान या कारखाना बनाएंगे।

सामने एक इमारत बन रही थी। कुछ औरतें बैठे गिट्टी कूट रही थीं। कुछ मज़दूर शाम हो जाने पर भी मिट्टी ढो रहे थे। पूछने पर मालूम हुआ कि यह पागलखाने का दूसरा हिस्सा है जहां तपेदिक के मरीज़ रखे जाएंगे। पागलों को तपेदिक भी होता है, यह 'जहाज़ का पंछी' और 'बूंद और समुद्र' पढ़कर न मालूम हुआ था।

दगड़ा खत्म हो चुका था। एक मित्र को याद आया कि यहीं कहीं मीनाबाज़ार लगता था। हम लोगों ने दगड़े का नाम मीनाबाज़ार रोड रखा। शहर आ गया। सामने मस्जिद थी। छोटे-छोटे मकानों के बाहर चमड़ा सुखाया जा रहा था। ऊंचाई पर पांच छः सार्वजनिक

शौचालय थे। कुत्ते भूंक रहे थे, सूअर भाग रहे थे, ठंड के दिनों में भी (यह सन् सत्तावन के प्रजातंत्र दिवस की बात है) नंगे बच्चे नाली में बैठे निवृत्त हो रहे थे। नाली के किनारे-किनारे ऊंचा अहाता था। किसी ने कहा, यह कब्रिस्तान है। पास में रिफ्यूजी कॉलोनी जैसी बस्ती में एक रंगीन दुपट्टा और लिपस्टिक से रंगे ओंठ दिखाई दिए। कुछ नौजवान बिगड़ी क्रीज़ की पतलूनें पहने रंगीन दुपट्टे से बातें कर रहे थे।

खेतों की खुली हवा के बाद ये सब दृश्य देखकर मेरे मित्रों को बहुत ग्लानि हुई। इस रास्ते वे कभी न आए थे। घूमने का सारा मज़ा किरकिरा हो गया—इस निश्चय पर वे पहुंचे। यहां से हमारा घर कितनी दूर है, इन गन्दी बस्तियों की हवा वहां तक पहुंचती होगी या नहीं, कोरियों और चमारों के घर ज्यादा गन्दे हैं या मुसलमानों के—इन समस्याओं का विवेचन होता रहा। घर तक पहुंचते-पहुंचते फैसला यही हुआ कि मुसलमान ज्यादा गन्दे हैं और इन गन्दी बस्तियों की हवा ऊंचाई पर बने हुए हमारे मकानों तक नहीं आती।

अशोक नगर

दीवाली की रात को फुरसत हो तो अशोक नगर ज़रूर आइए। वैसे तो आगरे में हर जगह रौनक होगी लेकिन अशोक नगर एक नई बस्ती है, यहां बल्बों की रोशनी में आपको देश के नवनिर्माण की एक झांकी मिलेगी। अगर आप आगरा शहर के ही बाशिन्दे हैं और अपने मुहल्ले से बाहर कम निकलते हैं तो आपको पता भी न होगा कि अशोक नगर कहां है, अथवा वह वास्तव में कोई नया नगर है या हमारे पुराने नगर का ही कोई नया मोहल्ला है।

लोग जिसे फटी धरती कहते थे, वहीं अशोक नगर आबाद है। पुराना कट्टीखाना उठ गया है, अब आसमान में चीलों के झुंड नहीं मंडराते और न धरती में उतनी दरारें हैं जितनी पहले थीं और जिनके कारण इस जगह का नाम फटी धरती था। यहां सस्ते दामों मामूली नौकरीपेशा वालों को ज़मीन दी गई है जिससे कि वे मकान बनाकर अच्छे ढंग से ज़िन्दगी बिता सकें। वैसे यहां कई कोठियां दो मंज़िलों की भी हैं, एकाध कोठी एक ही जगह दो प्लाट घेरकर बनाई गई है।

और किरायेदार ? कह नहीं सकते कि वे किरायेदार हैं या मकान मालिक के नाते-रिश्तेदार ! बहरहाल, जितने मकान मालिक हैं, उनसे कहीं ज्यादा किरायेदार उर्फ नाते-रिश्तेदार हैं। सुना यह भी है कि नाते-रिश्तेदार को रखने का यह परोपकारी धन्धा इतना लाभदायी हैं कि कुछ लोग और नये बसाये जाने वाले नगरों में भी महज़ देश की सेवा करने के लिए, यानी देश की आवास समस्या हल करने के लिए, नये मकान बनवाने की तैयारी कर रहे हैं।

आपने अशोक का नाम तो सुना ही होगा। उसके धर्मचक्र, लाटों शिलालेखों को कौन नहीं जानता। यह उचित है कि हम देश के नव-

निर्माण में अपने प्राचीन राष्ट्र निर्माताओं का सम्मान करें और जब वे राष्ट्र-निर्माता धर्म प्रचारक भी हों, तब कहना ही क्या ! सोचिए, इस फटी धरती पर लाखों पशुओं की बलि दी गई—यज्ञ के लिए नहीं, मनुष्यों की उदर पूर्ति के लिए। वैसे तो यह क्रिया अब भी होती है; यहां न सही, और कहीं। लेकिन इस फटी धरती पर तो हमने अशोक के झंडे गाड़ ही दिए। यानी कि हिंसा पर यह अहिंसा की विजय है।

जैसा नाम है, वैसा ही भव्य यह नगर है। वैसे नगर से आम तौर पर किसी शहर का बोध होता है लेकिन समानता के युग में नगर और मुहल्ले में कौन बड़ा, कौन छोटा ! हम अगर अपने मुहल्ले को नगर कहें तो इसमें किसी को ऐतराज़ क्यों ! फिर देखिए, प्रयाग की तरह यह दो धाराओं के संगम पर बसा हुआ है। इधर से आइए, बल्का बस्ती की तरफ से यह जो धारा बहती है, इसे आप गन्दा नाला न कहें। देखिए, यहां यह शिवजी की मूर्ति रखी हुई है। आप रोज़ सबेरे यहां कुछ भक्तों को जल चढ़ाते और हर-हर महादेव कहते सुनेंगे। पास में यह पुलिस की चौकी है जिसके आस-पास किसी भी तरह की गन्दगी हो ही नहीं सकती। और यह है छोटे बच्चों का स्कूल जहां लड़के-लड़कियां और सब चीज़ें पढ़ने के अलावा, नृत्य और संगीत कलाओं का अभ्यास भी करते हैं। और सड़क की धूल में सुअर के छोनों के साथ, वैसे ही मिट्टी-कीचड़ में सने, गरीबों के बच्चे किलोलें करते हैं।

यह तो एक धारा हुई। अब दूसरी तरफ की धारा देखिए। रेल की पटरियों के पास से बहती-इठलाती नाई की मंडी तक पहुंचती है। इसके किनारे कुछ सफाई कर्मचारियों ने अपनी झोंपड़ियों डाल रखी हैं। इसीसे पानी भरकर उन्होंने गारा बनाया और दीवालें खड़ी कीं। शायद वन महोत्सव के सिलसिले में ईंटों के घेरे डालकर यहां जो पेड़ लगाए गए थे, वे पेड़ तो अदृश्य हैं ही, ईंटें भी अब वन महोत्सव की याद दिलाने भर को रह गई हैं।

अशोक नगर मुख्यतः हिन्दू बस्ती है और उसके किनारे की यह धारा उसे नाई की मंडी से मिलाती है जो मुख्यतः मुस्लिम बस्ती है।

इस प्रकार हिन्दू-मुस्लिम एकता की दृष्टि से भी इस धारा का, जिसे लोग नाला कहते हैं, बहुत महत्त्व है। खेद की बात है कि मुहल्ले का नाम अशोक नगर रखते समय किसी ने इन दोनों धाराओं का नामकरण नहीं किया।

यदि पहली धारा के पास बच्चों का स्कूल है तो दूसरी धारा के पास गवर्मेन्ट हाई स्कूल के लड़कों के खेलने का विशाल मैदान भी है। पास में चिकित्सालय है जहां, लोग कहते हैं, टी० बी० का खास इलाज होता है। सुबह-शाम इस मैदान में, लोटा लिए हुए या बिना लोटे के जनता की इतनी भीड़ होती है कि अक्षरश: तिल रखने को जगह नहीं होती।

मैदान के एक सिरे पर सम्प्रदाय विशेष के मृत जनों की दाह-क्रिया की जाती है। घर बैठे हरिश्चन्द्र नाटक पढ़ने का मज़ा आ जाता है। फिर भी यहां स्वास्थ्य निर्माण हेतु देश के नौनिहाल हाकी या फुटबाल खेलने आते हैं। मानो तीर्थ का महत्त्व बढ़ाने के लिए यहां पांच कुएं भी हैं जिससे इस क्षेत्र को पंचकुइयां नाम भी मिला है।

अशोक नगर में बहुत से मकान सफाई इंस्पेक्टरों के हैं। नाले के किनारे सफाई कर्मचारी, नगर में उनके इंस्पेक्टर, हर तरह से सहयोग की सहूलियत। फिर भी प्रकृति यहां मनुष्य को चुनौती देती है: हे मनुष्य ! तू डाक्टरों के बल पर इतराता है और समझता है कि चेचक न फैलेगी, हैज़ा न होगा; सारे उत्तर प्रदेश में मलेरिया के मच्छर सप्लाई करने के लिए ये दो धाराएं काफी हैं; तू नहीं जानता, डाक्टरों की समृद्धि और संख्या वृद्धि के लिए इन धाराओं का अस्तित्व ज़रूरी है। मनुष्य और प्रकृति के संघर्ष में विजय प्रकृति की होगी।

वैसे तो सारा आगरा फटी धरती है और ऐन मेडिकल कालेज के नीचे जो नाला बहता है, वह इस शहर के सबसे बड़े नालों में एक है, फिर भी अशोक नगर को घेर कर बहने वाली दो धाराओं का अपना महत्त्व है।

आगरा अपनी बगीचियों के लिए प्रसिद्ध है। अशोक नगर के पास भी एक बगीची है। बहुत-से लोग यहां नहाने, कसरत करने और

फ़ुरसत में गपशप करने आते हैं। आगे एक देवी का मन्दिर भी है जहां विशेष तिथि त्योहारों पर मेला जुड़ता है। अब अशोक नगर के धर्मक्षेत्र होने में आपको कोई सन्देह न रह गया होगा। आपने सूकर खेत का नाम सुना है। जहां सन्त तुलसीदास ने रामकथा सुनी थी ? वह भी धर्मक्षेत्र है। पर सूकर खेत नाम तो अशोक नगर ही चरितार्थ करता है।

तो दीवाली की रात आप अशोक नगर आइए ज़रूर। देखिए, हमने पंचवर्षीय योजनाओं में कितनी प्रगति की है। दियों और बल्बों की सम्मिलित रोशनी आपकी आंखों में चकाचौंध पैदा कर देगी, आंखें यहां के झिलमिलाते सौन्दर्य से तृप्त हो जाएंगी। लेकिन हमेशा निगाह ऊपर ही न उठाए रहिए, सड़क में गड्ढे भी हैं। जहां-तहां ऊपर की पर्त तोड़कर नीचे की गिट्टियां उभर आई हैं। आपको लगेगा, सड़क खीस निपोरकर आपका स्वागत कर रही है। यह बात गैरवाजिब होगी कि आप बल्बों की रोशनी देखें और अपने कदमों के बीच सड़क का मुस्कराना भूल जाएं। यह सड़क खीस निपोरकर हंसती है, न केवल हम पर और आप पर, हमारी और आपकी निर्माण योजनाओं पर, बल्कि उस बस्ती पर भी जो भारतीय इतिहास के प्रतापी सम्राट् के नाम पर अशोक नगर कहलाती है!

डायरी के पन्ने

वृन्दावन लाल वर्मा

(31.3.54)

कालेज से घूमते हुए सबेरे हरिशंकर जी के यहां वृन्दावन लाल वर्मा जी से मिला। खाकी जांघिया, बनियान, सर पर बालों में सफेदी के साथ अब भी स्याही, चांद साफ लेकिन पूरी तरह चमकती हुई नहीं। गले मिले, आजकल के नौजवानों की तरह नहीं, भरपूर बाहों से, हृदय से हृदय लगाकर।

चन्देलों पर उपन्यास लिखना चाहते हैं। कारीगरों के नाम कुछ मन्दिरों में उन्हें मिले हैं। खजुराहो की विलासपूर्ण मुद्राओं से दुर्गा की ध्यानस्थ मुद्रा की तुलना कर रहे थे। बताया कि वैदिक काल के बाद वाले युग पर काम किया है। नैमिषारण्य और अयोध्या पर उपन्यास लिखेंगे। सोहराब मोदी से बंबई में मिले थे और कैसे झड़प हुई थी, बताया। इनकी शर्त थी कि हीरोइन के लिए (झांसी की रानी की भूमिका के लिए) वही स्त्री चुनी जाएगी, जिसे ये कहेंगे। मोदी ने कुछ रोब झाड़ा। इन्होंने कहा—My books are read by millions. (मेरी पुस्तकों के पढ़ने वालों की संख्या लाखों में है)। दशहरे में राजस्थान यात्रा का कार्यक्रम बना। अगली गर्मियों में दक्षिण-यात्रा का विचार हुआ। मैंने उनसे कहा कि अंग्रेज़ों से हमारी लड़ाइयों को लेकर एक उपन्यास और लिखें। उन्होंने तुरन्त बच्चों की तरह उठकर फौजी सलूट झाड़ा और हामी भरी। मैंने कहा कि अपनी पुस्तक 'प्रगतिशील साहित्य की समस्याएं' में मैंने इतिहास के प्रति राहुल जी के दृष्टिकोण का खंडन किया है, 'लक्ष्मीबाई' वाले दृष्टिकोण का समर्थन किया है। बोले—अभी और गाली खाओगे। उनमें

नौजवानों जैसी मस्ती है, मस्ती के नीचे कुशल व्यापार बुद्धि भी छिपी है। लखनऊ में अमृतलाल नागर के उपन्यास 'बूंद और समुद्र' का कुछ अंश सुना था; अच्छा लगा था। दक्षिण भारत की चर्चा चलने पर मीनाक्षी मंदिर में पुराने कवियों की मूर्तियां भी मंदिर में हैं, यह सुन कर बहुत खुश हुए। हाथ में चाय का प्याला था। बोले नुक्सान हो जाएगा, नहीं तो उछल पड़ता।

(30.11.58)

वर्मा जी डी० लिट्० लेने आए थे। 22 नवंबर को कन्वोकेशन था। तभी तय किया, झांसी जाएंगे। पहली बार मैं आगरा युनिवर्सिटी के कन्वोकेशन में गया। वर्मा जी ने मैथिलीशरण गुप्त से उधार लिया हुआ गाउन पहना था। सिर पर लाल टोपी भी थी। सबसे पहले इन्हें डिग्री मिली। उनके कृतित्व के बारे में संक्षित विवरण अंग्रेज़ी में पढ़ा गया। 'समालोचक' के दफ्तर में गोष्ठी होने को थी। वर्मा जी को साथ लाना था। अचानक कन्वोकेशन में लापता हो गए। बड़ी खोज खबर के बाद पता चला कि सोशल सायन्सेज़ के इन्स्टीट्यूट में राज्यपाल के साथ टी पार्टी में हैं। दूर से गंजी चांद दिखाई दी और मैंने पहचान लिया। 'समालोचक गोष्ठी' में खूब मनोविनोद रहा। विजयनगर कालोनी के साहित्य विद्यालय में उनका भाषण सबसे बढ़िया रहा। बोले—इतिहास के निर्माता कुछ चुने हुए वीर नहीं हैं, जनता है। भाषा के लिए कहा—तलवार में पानी न हुआ तो खूबसूरत म्यान लेकर क्या करेंगे?

22 को सवेरे सेंट जौन्स कॉलेज के पुल पर मिले थे। मैंने बाहों की मसल्स टटोलीं; मेरी मसल्स से ड्योढ़ी थीं। सक्कन (वर्मा जी के पुत्र) की मसल्स मेरी जैसी हैं पर ज्यादा सख्त हैं। झांसी में वर्मा जी का जवानी का चित्र देखा। हमारी से दुगनी मसल्स, ड्योढ़ा सीना, सवाई गर्दन, सवाया माथा। शेर मर्द की तस्वीर थी।

(11.9.65)

परसों शाम वृ० ला० वर्मा जी और भगवानदास माहौर आए।

माहौर का वाइवा (पी० एच० डी० की मौखिक परीक्षा) था। कल ढाई बजे आगरा कालेज में वर्मा जी का भाषण था। नीचे उतरकर पुस्तकालय की तरफ, बाईं ओर नये हाल में भाषण था। उपस्थिति लगभग तीन सौ, इनमें लड़कियां लगभग दो सौ। माइक का प्रवन्ध नहीं। अध्यक्ष की आवाज़ पीं-पीं। बार-बार सब को शान्त करें। वर्मा जी ने कहा—आप लोग शोर करते रहें तो अच्छा, मैं बोलकर जल्दी बैठ जाऊंगा। शायद लोगों ने यह भी न सुना। कुछ इतिहास, कुछ उपन्यास, कुछ भारत-पाक युद्ध पर बोल कर बैठ गए। कुल दस मिनट बोले होंगे। जगन्नाथ तिवारी टंहकारे बोले। 65-66 के, पर खूब स्वस्थ स्वर। बोले यही कि इनके उपन्यासों में जीवन सजीव हो गया है, पर लोगों ने ध्यान से सुना। अध्यक्ष ने मुझसे कहा—इनका (माहौर का) परिचय आप दे दीजिए। मैंने सुझाया—बस इतना कह दीजिए कि भगतसिंह और आज़ाद के साथी हैं। वह बोलने खड़े हुए तो बड़ी तारीफ की, महान् क्रान्तिकारी हैं, राष्ट्र की सेवा की है। फिर रुककर मुझसे पूछा—इनका नाम क्या है। मैंने जोर से कहा—भगवानदास माहौर !

वर्मा जी 76 पार हैं। ढल गए हैं। कम खाते हैं। मिस्सी रोटी, भुने आलू पसंद हैं। दाल में भिगो कर खाई। चाय में दूध पड़ने पर भी नीबू डाला। दूध पीना चाहते थे, रात में मिला नहीं। सबेरे-शाम आसन करते हैं। ज्यादातर सांस की कसरतें; खड़े होकर, नीचे झुके, ऊपर उठे, छीं-छीं करके फेफड़ों की हवा जल्दी-जल्दी भीतर-बाहर; घुटनों को भीतर की ओर झुके-झुके घुमाते हुए। 9-10 की रात को हवाई हमले का साइरन बजा। वर्मा जी और माहौर मेरे साथ घर से निकलकर लॉन में आ गए। आसमान में ट्रेसर बुलेट ; आतिशबाजी-सी; ऐन्टी एयर क्राफ्ट तोपों की आवाज़। बिजली गायब। लोग गुटों में सड़क पर; काफी तहलका।

अमृत लाल नागर

(25.10.65)

कल अमृत आए। इलाहाबाद से लखनऊ, लखनऊ से आगरा। दोनों यात्राएं रात को। बहुत थके थे। कहने लगे—कम चले; फर्स्ट में चले; या फिर पैदल चले। सर में जहां-तहां सफेद बाल चमकने लगे हैं। पंत जी से बातें हुई थी। पंत जी को विश्वास है कि निराला जी ने राम विलास से उनपर तांत्रिक प्रयोग कराए, उनकी बुद्धि भ्रष्ट करने के लिए। मैंने पूछा—प्रयोग सफल हुआ या नहीं? अमृत—उनकी समझ में वह बच गए। अमृत ने बताया, 'नई धारा' में किसी ने उनका इन्टरव्यू लिया है जो छपा है, दो महीने पहले। उसमें तांत्रिक प्रयोग की बात कही गई है।

(26.10.65)

बेगम समरू का किस्सा सुनाया (नागर जी ने मुझे)। राइन हार्ट से प्रेम—फ्रांसीसी अफसर और टामस से प्रेम। कश्मीरी लड़की, नाचने वाली, अंग्रेज़ी सीखी। राइन हार्ट की प्रेमिका बांदी को दीवाल में जिन्दा चुनवा दिया। शाह आलम की समर्थक, ईस्ट इंडिया कम्पनी से सुलह की नीति। रुहेलखंड के बंगशों का साथ देने का वादा करके वृन्दावन के राजा गोवर्धनराय से हमला कराया। आगे गाड़ी ठप। खोदने पर भी मराठों आदि के साथ उसके कारनामे न खुले। उपन्यास प्रेम कहानी होगा।

शाह आलम पर 1795 की छपी किताब इनके हाथ लगी; बहुत खुश। बोले—इसीसे भगवान पर भरोसा होता है, हम इतने काहिल हैं कि लाइब्रेरी तक न गए; बनिया (ज्ञानचंद जैन) दे गया, लाइब्रेरियन मेहरबान है, रिज़र्व सेक्शन की किताब भी भिजवा देता है, भगवान न होता तो यह किताब क्यों मिलती?

मैंने कहा—अब तुम पी० एच० डी कर डालो।

पंडित जी ने जवाब दिया—पहले इंटर करना पड़ेगा, फिर बी०ए०, फिर एम० ए०, बड़ी मेहनत पड़ेगी। अब पी०एच०डी०, बी०एच०डी०

का मोह नहीं है। पहले था। तुमने पंडित की उपाधि दे दी, वह बहुत है। पब्लिक से वह उपाधि और मिल जाए।

पंडितजी आजकल अपनी स्मृति ट्रेन कर रहे हैं। शिवताण्डव स्तोत्र पूरा याद कर लिया, गंगा लहरी में लगे हैं; पूरी गीता याद करने का हौसला है। कुर्सी पर पालथी मारकर बैठ गए। सस्वर स्तोत्र पाठ करने लगे। अधखुली आंखें, करुण कण्ठ स्वर, श्लोक पढ़ने के बाद हाथ जोड़कर खोपड़ी नवाई।

लिखने के ज़ोम में कभी-कभी सारा दिन चाय-बिस्कुट पर काट देते हैं। लेकिन क्या मेहनत ! क्या भाषा पर अधिकार अथवा शब्दों का मौलिक प्रयोग, जनता की बोली बानी की अनूठी पकड़ !

(15.8.68)

दिल्ली से लखनऊ जाते हुए अमृत यहां आए 13 को। पिछले दो सालों को देखते स्वास्थ्य अच्छा था। 'नैमिषारण्य' लिख रहे हैं। उनके उपन्यास के नायक व्यास जी ब्रह्मचर्य साध रहे हैं। नागरजी ने कहा—कुछ दिनों से मैं भी साधे हूं।

नागरी प्रचारिणी सभा में उनका भाषण। अठारह साल के बलभद्रसिंह, चहलारी के राजा ने 600 आदमी लेकर बाराबंकी में अंग्रेजों की राह रोकी। आखिरी दम तक लड़े और सब मारे गए। बहराइच के पास के थे, बेगम के बुलावे पर आए थे।

आज लखनऊ जा रहे हैं।

(22.3.73)

हाथरस के कालेज में कान्वोकेशन था। कुलपति बाल कृष्ण राव के साथ मैं भी गया। कान्वोकेशन ऐड्रेस के लिए अमृत आने वाले थे। आने में देर। कार्रवाई शुरू। आखिर आए। काला जड़ाऊ गाउन, खद्दर की धोती चप्पल में कुर्सियों की दोनों कतारों के बीच, नागर सखी गति से मंच की ओर बढ़ते हुए, समस्त छात्र, अध्यापक, कुलपति समेत, मुख्य अतिथि के सम्मान में खड़े हुए।

अमृत का भाषण, कुछ लतीफे, कुछ उपदेश, कुछ तुलसीदास वाली

आस्था। पं० जी जमे, उखड़े नहीं। चमचागीरी के प्रति छात्रों को सावधान किया। अलिखित, स्वतः स्फूर्त, धारा प्रवाह, कान्वोकेशनों की बोरियत को काटता हुआ, अनूठा भाषण।

रास्ते में, मालगाड़ी पटरी से उतरकर गिरी पड़ी थी। दूसरी राह से, फर्रुखाबाद होते हुए आए। दिन भर के भूखे। हाथरस चार बजे पहुंचे, साढ़े चार बजे पंडाल में। बोले—चौक हमारी युनिवर्सिटी, हम उसके वाइस चान्सलर हैं (चौक यानी लखनऊ में उनका मुहल्ला चौक)।

रायबरेली के बाबा सीताराम की बातें करते रहे (आगरा लौटकर मेरे घर पर)। तुलसीदास की चौपाइयां सुना-सुना कर किसान आन्दोलन चलाया। उनकी तैयार की हुई ज़मीन पर नेहरू-किदवई नेता बने। हरदोई में पासियों ने ज़मींदारों के खिलाफ आन्दोलन चलाया। बाबा सीताराम पर उपन्यास लिखना चाहते हैं। उसके पहले एक छोटा उपन्यास और।

पहले से स्वास्थ्य बहुत अच्छा है। प्रसन्न हैं। चित्रकूट जाने को कहते हैं। चैतन्य पर उपन्यास समाप्त कर दिया है।

(25.3.73)

कल (क० मुं०) विद्यापीठ आए। अपने पात्र कैसे चुनते हैं, इसपर बोले। पहले धीरे-धीरे अनमने से, फिर डूब कर, मज़े में, धारा प्रवाह। बाबा सीताराम की चर्चा; मई में रायबरेली ज़िले के गांवों में घूमने का विचार; किसान आन्दोलन वाले उपन्यास के लिए सामग्री बटोरेंगे। शिया मुसलमानों के रीति-रिवाज़ पर मसाला, ढोलक के गीत इकट्ठे किए। उनके डॉयलॉग नोट कर लेते हैं। परिवेश की सामग्री के बीच उन्हें फिट करते हैं। सेठ बांकेमल के चौबे इनके नाना हैं, बांकेमल—सुर्रोमल हैं। (अध्यापक) मुरारीलाल उप्रेति ने पूछा—सुर्रोमल नाम क्यों नहीं रखा? अमृत—तब अपने नाना का नाम भी देना पड़ता। ('बूंद और समुद्र' की) ताई में तीन पात्रों की मिलावट है। लोग कहते हैं—बहुत सजीव है। बिल्लियों वाली घटना मेरे ही घर की है (अ० नागर के घर की)।

आत्म संघर्ष की बात। सोते का पानी खत्म। नये सिरे से खोदना है। पुराना अमृत लाल नागर—अब नहीं। नया अमृत लाल नागर आएगा।

केदार से बातचीत

(3.1.36)

आज बहुत दिनों के संचित आलस्य को हठात् दूर कर तुम्हारा 15.11.35 का पत्र सामने रख तुम्हें उत्तर लिखने बैठा हूं, अथवा एक नया पत्र लिखूंगा। तुम्हें पत्र लिखने का विचार सदा दिमाग में चक्कर मारा करता था, इसलिए तुम समझ सकते हो, इस देरी का कारण मेरी उदासीनता नहीं। प्रत्युत पत्र न लिखने से तुम्हारा मुझे सदा ही ध्यान रहा।

तुमने लिखा है—'मैं तो स्वयं साफ हूं'। ऐसा विश्वास दिलाने की चेष्टा न करो, किसी को भी। शब्दों में ऐसा कहने से किसी को विश्वास होगा भी, इसमें सन्देह है। मित्रता करो, मुझसे ही नहीं, जिस किसी से भी हो सके। 'जिन खोजा तिन पाइयां' को चरितार्थ करने का एक ही ढंग है। अपने को थोड़ा-थोड़ा व्यक्त करते हुए दूसरों को भी जानने की चेष्टा करो। ये दुनियादारी की बातें हैं, पर उस दिन विक्टोरिया पार्क की बातें स्मरण कर विश्वास होता है, उन्हें तुम पहले से ही जानते होगे। तुमने लिखा है—'न जाने कैसे तुम भी जीवन में समा गए।'—इसपर लिखा। मेरी अच्छाइयों को जानने के पहले धीरे-धीरे मेरी बुराइयों को जान लो जिससे बाद में उनका ज्ञान होने पर तुम मुझे अपने हृदय से सहसा निकाल न फेंको। सच जानो, एक मनचाहे मित्र की न जाने मुझे कब से कितनी आकांक्षा है, और उसके लिए यथाशक्ति चेष्टा की है। परन्तु अभी तक वह साध जैसी की तैसी बनी है। तुम यदि उसे पूरा कर सको तो इससे अधिक सौभाग्य और क्या होगा ?

(12.2.36)

तुमने लिखा है—'जितना एक झलक में जाना जा सकता है, उतना

ही जीवन भर में।' यह किन्हीं महापुरुषों के लिए सत्य हो सकता है; उनमें से मैं नहीं। मैंने अपने स्टैंडर्ड से तुम्हें लिखा था। यदि तुम उनमें से हो तो गर्व की बात है।

बुराई-बुराई से भी मिलती है, यह क्या तुम नहीं देखते ? मुझे तो दुनिया में संगठित बुराई असंगठित अच्छाई को सताती दीख पड़ती है।

इसी तरह बुराइयां जानते जाओगे, पत्र तो देर में लिखा ही है। उस बुराई का उल्लेख करने की आवश्यकता नहीं। यदि एक झलक में मुझे पहचान गए होगे तो क्या बुराइयां छिपी रही होंगी ?

जनवरी के अन्त में किसी दिन मैं एक पड़ोसी की दाह-क्रिया में कानपुर गया था परन्तु अवकाश न होने और साथ में होने के कारण गंगा के इसी ओर से लौट आया। एक कानपुर के सज्जन से, जो यहां हैं और साथ गए थे, केवल यह पूछ सका कि डी० ए० वी० कालेज किस ओर है। उन्होंने पश्चिम की ओर उंगली उठाकर कहा, उधर बड़ी दूर। कुछ चिमनियों का धुआं उधर आकाश को धुंधला कर रहा था। मैंने सोचा, वहीं कहीं होस्टल के कमरे में शायद तुम लेटे कोई पुस्तक पढ़ रहे होगे या किसी का ध्यान कर रहे होगे।

तुमने लॉ लिया है या एम० ए० किया है, मुझे कुछ स्मरण नहीं, लिखना। अनेक कठिनाइयां हैं। इधर आना संभव नहीं दिखाई देता परन्तु कभी आऊंगा अवश्य, यह आशा किया करता हूं।

(31.8.38)

ज़रा सांस लेकर जल्दी ही में तुम्हें पत्र लिखने बैठा हूं। दो महीने से समझो दौड़ में ही हूं जिससे सांस लेने की फुर्सत नहीं मिली। जुलाई में एक महीने का युनिवर्सिटी में पढ़ाने का काम मिला। उसके बाद ही छः महीने का फिर मिला। दोनों दफे अलग-अलग क्लासें पढ़ानी थीं। Preparations आदि और कालेज के काम से त्रस्त हो जाता था। दूसरी बार तो ऐसा हुआ कि शाम को खबर लगी और दूसरे दिन से क्लास लेना पड़ा। एकदम से इसलिए बहुत काम करना पड़ा।

'रूपाभ' में कविताएं देखी होंगी। तुम्हारी 'शारदीया' (अर्थात इस नाम की मेरी कविता) प्रकाश में आ गई। 'चकल्लस' का भाभी अंक निकल गया। भाभी के ही साथ सार्थक है। देखा कि नहीं? निराला जी का 'देवर का इन्द्रजाल' मज़ेदार है। उच्छृंखल का विज्ञापन भी निकल गया है। दीवाली तक मित्रों का विचार है निकालने का।

(13.8.38)

यहां इस कदर बादल थे कि पत्र ही न लिख सका। अब भी आसमान में छाए ही रहते हैं। शमशेर का पत्र आया था और उसने इलाहाबाद के बारे में भी यही लिखा था।

शायद अपना पत्र तुम खुद पढ़ो तो अब आश्चर्य करो। आखिर इतना रंजोगम सिर्फ इसलिए कि 'उच्छृंखल' (नरोत्तम नागर द्वारा संपादित पत्र) बंद हो गया। और वह भी केवल मासिक पत्र के रूप में।

अमृत (अमृत लाल नागर) के यहां बैठा हूं। हज़रत हैं ही नहीं। नौकर से कमरा खुलवा लिया है। पास पढ़ीस जी (बलभद्र दीक्षित) भी हैं। गोमती की तरफ़ से ऐसी बढ़िया हवा आ रही है कि कुछ गंभीर लिखना नामुमकिन मालूम होता है। मैंने एक भी कविता नहीं लिखी। प्रेमचन्द पर दो अध्याय लिखे हैं। आजकल खाने, कसरत करने और सोने के सिवा कुछ अच्छा नहीं लगता।

(10.2.43)

'साहित्यिकों के परिवारों पर यदि परमात्मा गाज गिराता है तो हम तो उसे रोकेंगे ही।' इस वाक्य को पढ़ा और फिर पढ़ा। अब याद हो गया है।

'कक्कू' (बलभद्र दीक्षित 'पढ़ीस') की मृत्यु ने अनेक लेखकों की प्रतिभा को या उनके सोते हुए मनुष्यत्व को जगा दिया है। नरोत्तम (नागर) ने मुझे इधर इतने सुंदर पत्र लिखे हैं; जिनकी मैं स्वप्न में भी आशा न करता था। मेरा नरोत्तम से काफी मतभेद था। परंतु इस तरह के मतभेदों के ऊपर वह मेरे हृदय से आ मिला है—कक्कू की मृत्यु के बाद।

तुम्हारा लेख माधुरी में छप गया है। एक हफ्ते में अंक (पढ़ीस अंक) तुम्हें मिल जाएगा। 'आग आंसू और जीवन की कहानी' तुमने बहुत अच्छा लिखा है। अभ्युदय में तुम्हारी चीजें पढ़ता रहा हूं, हंस में भी। कहीं-कहीं दृष्टिकोण आदि से थोड़ा-सा असहमत हूं। परन्तु तुम्हारी चीज़ें मुझे बहुत पसन्द हैं।

'पढ़ीस अंक' एक हफ्ते में निकल जाएगा, तब उसे देखोगे ही। पढ़ीस जी की रचनाएं पढ़कर अपनी राय लिखना।

निरालाजी पर पुस्तक लिखना आरंभ करने वाला हूं। 'भारतेन्दु युग' का समर्पण 'श्री केदारनाथ अग्रवाल को' बड़े अक्षरों में छपा है। एक महीना हुए पुस्तक छप गई थी परन्तु अभी बंधी नहीं है।

(मई 1943)

निरालाजी पर (मेरी) कविता इस दृष्टिकोण से लिखी गई है। वह छायावादी स्वप्नदृष्टा हैं; अब वे स्वप्न नहीं रहे। स्वप्नों का वह सौन्दर्य उनके यथार्थ जीवन पर व्यंग्य करता है। यह वैषम्य मैंने व्यक्त करने की चेष्टा की है। परन्तु स्वप्नदृष्टा होते हुए भी उन्होंने सामाजिक रूढ़ियों के प्रति विद्रोह किया है। उन्होंने ही लिखा था—तुझे बुलाता कृषक अधीर और सिंहों की मांद में आया है आज सियार उनके इस विद्रोही भाग से हम लोगों की सहज सहानुभूति है और उस परिपाटी को अधिक विकसित करके हम आगे बढ़ना चाहते हैं। आज अब परिस्थितियों के कारण और स्वार्थी भाइयों के विरोध के कारण वह ध्वस्त और त्रस्त हो गए हैं; तब कौन ऐसा कृतघ्न होगा जो उनके साथ सहानुभूति प्रकट करना भी अनुचित समझेगा ? सहानुभूति प्रकट करना हमारा धर्म, हमारी कृतज्ञता का प्रकाशन है क्योंकि उन्होंने उस विद्रोही परम्परा को जन्म दिया है जिसके हम अनुयायी हैं। और जब निरालाजी ने लिखा था—तुझे बुलाता कृषक अधीर; चूस लिया है उसका सार, हाड़मात्र ही हैं आधार, ओ विप्लव के पारावार—तब इस परम्परा का अन्त कहां होगा ? उस जन-राज्य में ही जहां कृषक इस तरह आसमान की ओर, दुर्बल हाथ न उठाएगा। नये कवियों का सामाजिक आदर्श कौन-सा है ? वही जिसका संकेत निरालाजी की

कविता में मिलता है वह आज ध्वस्त और जर्जर हैं और तुम और जो भी उस विद्रोह पथ पर चलेगा, उसे कठिनाइयों से जूझना होगा। उस पथ पर चलने के लिए मर मिटने की लगन चाहिए। इसीलिए तुम जैसों पर विश्वास करके मैंने लिखा था कि साथी, अपने विद्रोही स्वर को दबाओ मत। तुम्हारे पीछे और नए कवि भी आ रहे हैं। वे उस जनता के राज्य की स्थापना करेंगे। संभव है, कविता में यह सब व्यक्त न हुआ हो, शायद हो न सकता हो। परन्तु मेरा दृष्टिकोण यही था।

(20.8.47)

पंत जी से मुलाकात हुई। अरविन्द घोष से नई-नई बातें सीख कर आए हैं। 'लोकायतन' खोलेंगे। जिसमें ज्योतिद्वार, संस्कृतिद्वार साहित्यद्वार आदि अनेक द्वार होंगे। बुद्धि का प्रवेश सभी में निषिद्ध होगा। चोबदार अज्ञेय, बच्चन, नरेन्द्र वगैरह होंगे—पंत जी खुद हेड ज़मादार। उम्मीदवारों में मेरा भी नाम लिख लिया है लेकिन मैं यहीं से काम करना चाहता हूं।

(21.10.47)

तुमने मेरी कोई पुस्तक अभी तक नहीं पढ़ी—इसमें ज्यादा नुकसान नहीं हुआ। जब पढ़ने लायक किताबें लिखने लगूंगा तब तुम तक पहुंच ही जाएंगी। तुमने लिखा है कि संत कवियों पर 'एक वाक्य में' कुछ कह गया था। अजी हज़रत, आपकी भूमिका में मध्यकालीन हिन्दी साहित्य के नाम पर सिर्फ रीतिकालीन कविता दिखाई देती है और तुलसी और सूर एक लम्बे पैराग्राफ में पलायनवादी सिद्ध किए गए हैं। गलती तो थी ही; जिस लेख में उसका मार्जन किया हो, उसे मेरे पास भेज दो। मैं उसका ज़िक्र करके बैलेन्स बराबर कर दूंगा। ठोंकने-पीटने लायक तुम नहीं हो। जो कुछ कहूंगा मुहब्बत से।

समाज की आर्थिक व्यवस्था और उसका साहित्य पर प्रभाव, इस बारे में मैंने जो कुछ लिखा था, वह शायद साफ नहीं हुआ। इससे मुझे कब इंकार है कि आज का साहित्य जीवन को अधिक अपनाए और

उसीके अधिक अनुरूप हो। लेकिन यह जीवन संक्लिष्ट रूपों में प्रकट होता है। उसे over simplify नहीं किया जा सकता। साहित्य को आर्थिक व्यवस्था का सीधा प्रतिबिम्ब समझना हकीकत से इंकार करना है। मिसाल के लिए तुलसीदास ने राजा दशरथ और राजा रामचन्द्र का नाम लिया है, इसलिए तुम उन्हें राजसत्ता का पोषक कहकर ही छोड़ दोगे लेकिन भरत के चरित्र में उन्होंने जो करुणा भर दी है, उसके मानववादी महत्त्व को बिलकुल भूल जाओगे। तुम यह भी बता नहीं सकोगे कि तुलसीदास ने यह क्यों लिखा—दारिद दसानन दबाई दुनी दीनबन्धु दुरितदहन देखि तुलसी हहा करी। दरिद्रता को रावण कहना क्या सिर्फ धार्मिकता है? इस तरह के लेखकों में अपने युग की असंगतियां झलकती हैं। तुलसीदास के सामने समाज का वही ढांचा था जो शास्त्रों में लिखा हुआ था लेकिन उनकी सहृदयता बार-बार उससे बगावत करती थी। इस असंगति को पकड़ना आलोचक का काम है। इसी तरह मिल्टन का शैतान दुर्गुणों से भरा हुआ है, फिर भी वह Renaissance के विद्रोह का सबसे बड़ा प्रतीक है। तालस्ताय ने धर्म की घूंटी दी थी, फिर भी पूंजीवाद के खिलाफ किसानों के असंतोष को प्रकट करने वाला सबसे बड़ा लेखक वही था। तुम एक पहलू देखते हो, दो विरोधी पहलुओं से मिलकर जो यथार्थ बना है, उसे भूल जाते हो। इति।

(10.6.52)

हवा सन्नाटा खींचे है। पसीने से बदन भीग गया है। अस्वाभाविक अंधेरे से पांच का वक्त आठ का लगता है। धूल और गर्द की आंधियां आ चुकीं। ये पानी से भरे बादल हैं जो अपने दबाव से हवा का सांस लेना बन्द कर चुके हैं। ये बरसेंगे और इस धरती को वहां तक सींच देंगे जहां से हर दरख्त और सब्ज़े को रस मिलेगा। हम अपने दोस्तों को कैसे भूल सकते हैं जब धूल की आंधियां खत्म हो चुकी हैं और पानी से भरे नीले बादल बरसने को हैं। तुम्हारी शायरी हरी रहे, मिलेंगे ज़रूर लेकिन कुछ दिन बाद।

(15.12.53)

आजकल क्या लिख रहे हो? तुमसे मिलने को बेहद उत्सुक हूं--लेकिन यह भारतेन्दु वाली पुस्तक पूरी नहीं हो रही ('भारतेन्दु युग' से भिन्न 'भारतेन्दु हरिश्चन्द्र' का ज़िक्र है।) वाह, क्या गज़ब का आदमी था। 'कवि वचन सुधा' से दिए हुए उद्धरण पढ़ोगे तो खुश होगे। दस साल में पत्रकार, नाटककार, कवि, इतिहासकार, वह क्या नहीं रहा, और नयी चाल की हिन्दी ढालने वाला अलग से।

ठहरो, मैं भी कुछ कविता लिख लूं, फिर बांदा आऊंगा। और तुम्हें सुनाऊंगा उपन्यास लिखने का विचार खत्म कर दिया क्या?

चेखव की कहानियां पढ़ी हैं? न कोई कहानी लिखना चाहे तो लिखने लगे। उस्ताद है, उस्ताद।

(9.1.56)

मैं कई साल से कविताएं लिखने की सोच रहा हूं लेकिन मन में बहुत-सी कविताएं रच डालने के बाद भी भाषा और छन्द में उन्हें बांधने की नौबत नहीं आई। स्पष्ट विचार होते तो देर न लगती लेकिन thrill, excitement, अव्यक्त-सी संवेदनाओं को प्रकट करने में दिक्कत होती है। हां, एक बार गाड़ी चल निकली तो फिर चल निकलेगी। पिछले साल शुक्ल जी पर किताब निकल गई थी। एक लेख संग्रह भी 'लोक जीवन और साहित्य' के नाम से, जिसमें माधुरी वाले फिराक सम्बन्धी लेख भी हैं।

यह पढ़कर आश्चर्य और दुख दोनों हुए कि इतने दिन वकालत करने के बाद तुम्हारी स्थिति चिन्ताजनक है, तुम्हें मुवक्किल नहीं मिलते और तुम पेशा बदलने की सोच रहे हो। इस बारे में और विस्तार से लिखो—अब तुम्हारे ऊपर भार कितना है और क्या अब बिलकुल यह स्थिति आ गई कि वकालत छोड़कर और कोई धन्धा अपनाओ।

मैंने तुम्हारी जिन कविताओं में निशान लगा दिए हैं, वे मुझे ज्यादा अच्छी लगीं। तुम बांदा जैसी जगह में वकालत जैसा पेशा करते हुए कविता को ज़िन्दा बनाए हुए हो, यह काम सराहनीय बात

है। तुम्हारी कविताओं में अब भी ताज़गी है, अनूठापन है, उपमानों का चमत्कारी प्रभाव है, तीक्ष्ण और कोमल संवेदनाएं हैं। लेकिन अपनी अनुभूति को बराबर रिफ्रेश करते रहना ज़रूरी है और भाषा, imagery, छन्द वगैरह पर और मेहनत करना ज़रूरी है। कविता कला है, सुन्दर है। उसके कलात्मक सौन्दर्य पर और ध्यान देना ज़रूरी है।

(27.2.57)

इस महीने कोर्स खत्म कराने में लगा था—कुछ अपना, कुछ दूसरों का। आज शिवरात्रि की छुट्टी है, फिर भी सबेरे ढाई घंटे पढ़ा आया। अब कार्य समाप्त है और जुलाई तक छुट्टी समझो! तुम्हें फुरसत से लिखना चाहता था, इसलिए विलम्ब हुआ। तुमसे नाराज़ भी होकर रूठना या पत्र न लिखना मेरे स्वभाव के विपरीत होगा। नाराज तो नहीं था लेकिन याद दिलाने से हो गया हूं। तुम जितने उमदा आदमी हो, उतने उमदा कवि अभी नहीं हो। इसका कारण शायद धैर्य की कमी है जो मेरी समझ में नहीं आता क्योंकि तुम्हारा जीवन धैर्यहीन का जीवन नहीं है। शायद तुम्हें कविता में डूबने और कुछ गहरा जाने का समय कम मिलता है। जो हो, मैं यह कहने से बाज़ न आऊंगा कि अभी तुम्हें अपना शिल्प संवारना है।

इधर विकासवाद पर और पुस्तकें पढ़ीं। लगता है, हर वैज्ञानिक कविहृदय होता है। डारविन ने पांच साल तक बीगल जहाज़ पर विश्वभ्रमण किया था और पशु, पौधों के बारे में सामग्री एकत्र की थी। उसकी वर्णन करने की क्षमता अद्भुत है। ब्राज़ील के वनों और वहां स्पेन से आए निवासियों के जीवन के वर्णन में उसने कवि और कथाकार की कला का परिचय दिया है।

अपनी सरसों का जोड़ीदार Walt Whitman का Dandelion देखो :

Simple and fresh and fair from winter's close emerging,
As if no artifice of fashion, business, politics had

ever been,
forth from its sunny nook of shelter'd grass—
innocent, golden, calm as the dawn,
The spring's first dandelion shows its face.

यह कविता सत्तर साल के Whitman ने लिखी थी—

अपनी आयु के समान पूर्ण। भाव और शब्द किस सहज डोर से बंधे हैं। और प्रकृति का वही स्पन्दन जो कालिदास ने सुनाया, यहां भी है।

(13.3.57)

Whitman की वह कविता उसके संग्रह में मुझे सबसे अच्छी लगी। उसकी अधिकांश कविताएं अच्छी कम और सिलपट ज्यादा होती हैं। तुम्हारी 'धूप धरा पर उतरी,' 'कोयले,' 'छोटे हाथों' और 'चन्द गहना' वाली कविताएं मेरी निगाह में Dandelion स्तर की हैं।

तुम जब inspired होकर लिखते हो, तब अच्छों-अच्छों से अच्छा लिखते हो। हां कवियों को थोड़ा विज्ञान अवश्य पढ़ना चाहिए। इससे उनका दृष्टिकोण निखरेगा और विशद भी होगा। Whitman के संग्रह में John Burroughs की एक पंक्ति थोरो के बारे में है : He improves with age—in fact requires age to take off a little of his asperity, and fully ripen him. इस वाक्य का पहला टुकड़ा छोड़कर शेष संभवतः मुझ पर भी लागू होता है।

कविता कांखकर नहीं, निर्झर की तरह शिलाएं तोड़कर निकलेगी। धैर्य धरो। Whitman की कुछ पंक्तियां और पढ़ो। A Prairie Sunset कई बार पढ़ना।

Shot gold, maroon and violet,
dazzling silver, emerald, fawn,
The earth's whole amplitude and Nature's
multiform power consigned for
once to colours........

Pure luminous colour fighting the
silent shadows to the last.

(16.5.57)

सूर का दिव्यदर्शन देखो। रास का चित्र है। कल्पना के रंगों में सूर की संवेदनाओं ने ढलकर ज्योति के पत्र पर कैसा अमर चित्र आंका है—वर्ण-वर्ण, रेखा-रेखा सजीव है, सारा चित्र इतना सर्वांग-संपूर्ण, मानो द्रष्टा के सामने मंत्र के प्रज्वलित अक्षर स्वतः अवतरित हुए हों—

अरुझी कुंडल लट, बेसरि सों पीतपट, बनभाल बीच आनि
उरझे हैं दोउ जन।
प्राननि सों प्रान, नैन नैननि अंटकि रहे, चटकीली छबि देखि
लपटात श्याम घन।
होड़ा होड़ी नृत्य करैं, रीझिरीझि अंक भरैं, ताता थेई थेई
उघटत हैं हरखि मन।
सूरदास प्रभु प्यारी, मंडली जूवति भारी, नारि को आंचल
लै लै पोंछत हैं स्रमकन।

Walt Whitman ने तो एक Dandelion की पूर्णता ही उतारी थी—यहां तो कुंडल में उलझी हुई लट से लेकर नारि के आंचल से स्रमकन पोंछने तक हर detail dandelion सी पूर्ण है और उन सब details से मिलकर बने हुए पूरे चित्र की पूर्णता-भव्यता का क्या कहना। उल्लास का ऐसा चित्र और कहीं देखा है? कृष्ण के कुंडलों में राधिका की लट, राधा की बेसर में कृष्ण के पीतपट उलझे हैं। नृत्य घनीभूत है न! बनमाल में दोनों ही उलझ गए हैं। होड़ करके नाचते हैं। सामन्ती निषेधों की बेड़ियां पैरों में नहीं हैं, इसलिए; प्राक्सामन्ती समाज की स्वच्छन्दता के ताल पर नाच रहे हैं। प्राणों से प्राणों, नैनों से नैनों का मिलना—रवीन्दनाथ-निराला की प्रेम संबन्धी तल्लीनता सूर ने पहले ही देख ली है। रीझ-रीझ कर अंक भरना, ताता थेई थेई उघटत पर जब मृदंग पर थाप पड़े, तब नाद की नसेनी पर मन सुन्न महल पर पहुंच जाए। मंडली जुवति (थुवति मंड़ली) है,

अनेक नाचने वाले हैं। सामूहिक उल्लास है। फिर समग्र क्रिया की पूर्ति के फलस्वरूप आंचल से स्रमकन पोंछना—रस निष्पत्ति की पराकाष्ठा है !

(28.7.59)

तुमने लिखा है—कविता दिमागी शान्ति चाहती है। मुझे लगता है, शारीरिक शान्ति यानी कामधाम से फुरसत और भी आवश्यक है। तुम वकालत करते हुए कविता लिख लेते हो, यह मेरे लिए सदा चमत्कार का विषय रहा है। मुझे मानसिक शान्ति तो प्राप्त है। लेकिन सबेरे से शाम तक काम के मारे शरीर एकाग्र नहीं कर पाता—जैसे लोग मन एकाग्र करते हैं और कविता के लिए शरीर शान्त, संतुलित, दैनिक उत्तरदायित्व से मुक्त होना चाहिए। सो नौ मन तेल जुटता नहीं ?

यह ठीक है कि तुम दुनिया के लायक नहीं हो। वह सारा खून चूस लेना चाहती है। यहीं इतिहास मदद करता है। जब से सन् सत्तावन (यानी अठारह सौ सत्तावन) पर पढ़ना शुरू किया, लगता है, मेरी मुसीबतें कुछ नहीं है। परेशान तो करती हैं मुसीबतें लेकिन उन लोगों की मुसीबतें जो जंगलों में भटकते फिरे, कभी खाना नसीब, कभी खाली पेट, और खाने से ज्यादा कीमती गोली-बारूद नहीं, उनके जाने-पहचाने मित्र पकड़े जाते हैं, फांसी के तख्ते से लटका दिए जाते हैं या तोप से उड़ा दिए जाते हैं, लखनऊ गया, दिल्ली गई, झांसी गई लेकिन वाह री हिम्मत, ऐसे लड़ रहे हैं मानो इन्कलाब अभी शुरू हुआ हो !

अच्छा मेरी नई किताब ('सन् सत्तावन की राज्य क्रान्ति') में सौ वर्ष पहले के भारतीय सूरमाओं के दांव पेंच देखना।

(12.12.59)

वो सूरतें इलाही किस मुल्क बसतियां हैं।
अब जिनके देखने को आंखें तरसतियां हैं।

माई डियर ! आगरे से बांदा उतनी दूर नहीं जितनी दूर गोकुल से मथुरा था। फिर भी मुलाकात क्यों नहीं होती ? मैं 26 दिसंबर के लगभग झांसी जाऊंगा। क्या तुम दो-एक दिन को उधर आ सकोगे।

वर्मा जी (वृन्दावन लाल वर्मा) के साथ घूमेंगे। खेतों की सैर करेंगे। जंगल की हवा खाएंगे। एक बार फिर झांसी का किला देखेंगे और तुम्हें सौदा की कविताएं सुनाएंगे। मालवे की चांदनी रात देखी है? सुना है, उधर मई-जून में लू नहीं चलती। क्या राय है? खैर, वह तो दूर की बात है। यह साल खत्म होने से पहले मिलना है जरूर। तुम्हारी कचहरी ईसामसीह की शहादत के तुफैल में बन्द होती है या नहीं? होती है तो कब, कितने दिन को— जरूर सूचित करना। हां मैं 18 दिसंबर को दिल्ली जाऊंगा। उस दिन के आसपास तुम तो उधर न आओगे?

अब सौदा की हिन्दी देखो—

जिन्होंकी छाती से पार बरछी हुई है रन में वो सूरमा हैं।
वड़ा वो सावंत मन में जिसके बिरह का कांटा खटक रहा है।
मुझे पसीना जो तेरे मुख पर दिखाई दे है तो सोचता हूं।
ये क्योंकि सूरज की जोत आगे हर एक तारा छिटक रहा है।

प्यारे, इस तरह की हिन्दी लिखो, तब कविता वैसे ही गांव-गांव में पढ़ी जाए जैसे ब्रजभाषा के कवित्त लोग पढ़ते हैं।

लगता है, गालिब की ज़बान में भी इतनी मिठास नहीं है; पढ़कर बंगाल के वैष्णव कवियों या फिर अपने सूरदास की याद आती है।

(7.9.61)

लोग कहते हैं कि युद्ध निकट होने पर भूकंप आदि अपशकुन होते हैं। निरालाजी की बीमारी, अमृतनागर का टायफ़ायॅड ऐसी ही प्राकृतिक दुर्घटनाओं के समान हैं।

तुमने बहुत अच्छा किया जो इलाहाबाद हो आए। मुझे ऐसा लगा मानो तुम आगरे आकर गले मिल गए हो। तुम्हारे साथ निराला जी के दारागंजी कमरे में मैं भी घूम आया।

बेशक, निरालाजी की आलोचना की जा सकती है लेकिन आलोचना वे करें जिन्होंने निराला से अधिक साधना की हो और जीवन में उनसे अधिक संयम बरता हो। ऐसे लोग नज़र नहीं आ रहे फिर दारागंज में—'वन्य जन्तुओं का रोदन कराल' तो सुना जा

सकता है, साधकों की मर्मवाणी नहीं।

इधर मैं वर्शीगोश की पुस्तक Men with a clear Conscience फिर पढ़ रहा था। उसके बाद War and Peace पढ़ना शुरू किया और युद्ध संबंधी अंश पढ़ गया। तालस्ताय ने इतिहासकारों की ख़ूब मरम्मत की है। वे रूस, फ्रांस का युद्ध वैसे ही नहीं समझ पाए जैसे हमारे यहां के बुद्धिजीवी 1857 का महत्त्व नहीं समझे। किस शान से बूढ़े ने जन-प्रतिरोध के बारे में लिखा है :

...The cudgel of the people's war was lifted with all its menacing and majestic strength, and without consulting anyone's tastes or rules, and regardless of any thing else, it rose and fell with stupid simplicity, but consistently, and belaboured the french till the whole invasion had perished.

(17.1.62)

सबेरे के साढ़े तीन बजे हैं यानी अभी रात ख़ूब है। बाहर ख़ूब कोहरा पड़ रहा है। सर्दी काफी है। कहीं ज़ोरों से बर्फ गिरी है। मैं जल्दी सो गया था। उठकर तुम्हें पत्र लिख रहा हूं।

निरालाजी के जितने पत्र थे, तुम्हारे, अमृत नागर तथा थोड़े बहुत अन्य मित्रों के जो पत्र थे, सबको एक सिरे से पढ़ गया हूं। बड़ा विचित्र अनुभव होता है। दोस्तों के साथ अपने को भी देखता हूं मानों वर्षों के पर्त उघड़ते चले जाते हैं और मैं अपने से, तुमसे, निरालाजी से फिर मिलता हूं। मन पर उदासी नहीं छा जाती, न तो यह भाव जागता है कि फिर नौजवान हो जाएं (जवान तो अब भी हैं!) और न यह भाव पैदा होता है कि हाय, वे दिन बीत गए, फिर कभी न लौटेंगे।

इसके विपरीत पुराने संघर्षों की झलक देखकर संतोष होता है कि वृथा नहीं जिए, भरसक भाषा और साहित्य के लिए काम किया, खास कर तुमने और नागर ने बड़ी विषम परिस्थितियों में काम किया है।

किसी साहित्यिक को ऐसी पत्नी मिले जो उसके धन न कमाने पर न खीझे, तो यह उसके जीवन का सबसे बड़ा पुण्य समझो। समझ गए न ?

मुझे इस बात पर बड़ी प्रसन्नता है कि साहित्यिक जीवन के आरंभ से ही तुमसे और अमृत नागर से मेरी दोस्ती बराबर बनी हुई है और सन्देह, कटुता या ईर्ष्या-द्वेष की हल्की छाया भी इस मैत्री पर इस लम्बी अवधि में एक बार भी नहीं पड़ी।

मेरा विचार बहुत जल्दी संस्मरण लिखने का है जिनमें तुम्हारी और अमृत नागर की स्वभावत: विस्तृत चर्चा रहेगी। ज़रा निरालाजी की जीवनी समाप्त कर लूं। अभी लिखना शुरू नहीं किया किन्तु सामग्री काफी बटोर ली है।

तुम अभी विस्तर में होगे। राम करे, जब उठो तब चमकते से सूर्य का मुंह देखो और मुवक्किल तुम्हारे ऊपर नोटों की वर्षा करें।

०००

मुद्रक : के० के० प्रिंटर्स, दिल्ली 211180

डा० रामविलास शर्मा का जन्म 10 अक्टूबर, 1912 को ऊंचगांव सानी जिला उन्नाव में हुआ। सन् 38-43 तक लखनऊ विश्वविद्यालय के अंग्रेज़ी विभाग में अध्यापक, 43-74 तक आगरा में अध्ययन कार्य। अब अवकाश प्राप्त, भारतीय साहित्य के इतिहास और भारत के प्राचीन भाषा परिवारों पर अनुसन्धान कार्य में संलग्न।

उनकी अन्य प्रकाशित कृतियां हैं—निराला की साहित्य साधना, महावीर प्रसाद द्विवेदी और हिन्दी नवजागरण, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी आलोचना, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, भारतेन्दु युग और हिन्दी भाषा की विकास परम्परा, प्रेमचन्द और उनका युग, नई कविता और अस्तित्ववाद, भाषा और समाज, भारत की भाषा समस्या और भारत के प्राचीन भाषा परिवार और हिन्दी (भाग-1)।

दशद्वार से सोपान तक बच्चन

जीवनी : संस्मरण : आत्मकथा

क्या भूलूं क्या याद करूं (आत्म-कथा-1)	बच्चन
नीड़ का निर्माण फिर (आत्म-कथा-2)	बच्चन
बसेरे से दूर (आत्म-कथा-3)	बच्चन
नये-पुराने झरोखे	बच्चन
आवारा मसीहा	विष्णु प्रभाकर
गर्दिश के दिन	कमलेश्वर
पत्र और दस्तावेज़	सरदार भगतसिंह
मेरे क्रांतिकारी साथी	सरदार भगतसिंह
अमर कथाकार प्रेमचन्द	मदन गोपाल
योद्धा संन्यासी विवेकानन्द	हंसराज रहबर
भारत के चमत्कारी साधु-संत	माया बालसे
आधे सफर की पूरी कहानी	कृश्न चन्दर, सल्मा सिद्दीकि
सरदार पटेल	सेठ गोविन्ददास
वीर वैरागी	भाई परमानन्द
जवान : राष्ट्र का गौरव	डॉ० श्यामसिंह शशि
भारतेन्दु हरिश्चन्द्र	मदन गोपाल
जिनके साथ जिया	अमृतलाल नागर
धरती है बलिदान की	शान्ताकुमार
सिख धर्म के दस गुरु	बी० एस० गुजराती
पत्र और दस्तावेज़	सरदार भगतसिंह
मेरे क्रान्तिकारी साथी	सरदार भगतसिंह
मेरी जेल डायरी	जयप्रकाश नारायण
पंचरत्न	डा० रामविलास शर्मा

राजपाल एण्ड सन्ज़, कश्मीरी गेट, दिल्ली